ISSN : 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का
समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल

वर्ष 20 | अंक 2 | दिसम्बर 2022

www.mpissr.org

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

संरक्षक

प्रोफेसर गोपालकृष्ण शर्मा

सम्पादक

प्रोफेसर यतीन्द्रसिंह सिसोदिया

उप-सम्पादक

डॉ. आशीष भट्ट
डॉ. सुदीप मिश्र

सलाहकार मण्डल

प्रोफेसर अनिल कुमार वर्मा
समाज एवं राजनीति अध्ययन केन्द्र, कानपुर (उ.प्र.)

प्रोफेसर बदरीनारायण
गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज (उ.प्र.)

प्रोफेसर मणीन्द्रनाथ ठाकुर
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफेसर संजय लोढ़ा
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

प्रोफेसर डी.एम. दिवाकर
ए.एन. सिन्हा समाज विज्ञान संस्थान, पटना (बिहार)

प्रोफेसर सन्दीप जोशी
म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन (म.प्र.)

ISSN 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

वर्ष 20 दिसम्बर 2022 अंक 2

सम्पादक
प्रोफेसर यतीन्द्रसिंह सिसोदिया

उप-सम्पादक
डॉ. आशीष भट्ट
डॉ. सुदीप मिश्र

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान
(भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार
एवं उच्च शिक्षा मन्त्रालय, मध्यप्रदेश शासन का स्वायत्त शोध संस्थान)
6, प्रोफेसर रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र
उज्जैन - 456010 (मध्यप्रदेश)

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन द्वारा प्रकाशित ***मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल*** अन्तर्विषयक प्रकृति का समीक्षीत अर्द्धवार्षिक जर्नल है। जर्नल के प्रकाशन का उद्देश्य समाज विज्ञानों में अध्ययन एवं अनुसन्धान को बढ़ावा देना तथा समसामयिक विषयों पर लेखकों एवं शोधार्थियों को लेखन एवं सन्दर्भ हेतु समुचित अवसर प्रदान करना है।

समाज विज्ञानियों एवं शोधार्थियों से भारतीय एवं क्षेत्रीय सन्दर्भों पर सम-सामयिक विषयों यथा - सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, विकासात्मक, प्रशासनिक मुद्दों, समस्याओं एवं प्रक्रियाओं पर शोधपरक आलेख, पुस्तक समीक्षा आदि आमन्त्रित हैं।

जर्नल में प्रकाशित शोध आलेखों में प्रस्तुत किये गये तथा व्यक्त किये गये विचार और टिप्पणियाँ सन्दर्भित लेखकों की हैं। इन्हें सम्पादक अथवा संस्थान के विचारों के प्रतिनिधित्व के रूप में नहीं लिया जाना चाहिये।

सदस्यता शुल्क

वार्षिक		**प्रति अंक**	
संस्थागत	रु. 400.00	संस्थागत	रु. 200.00
व्यक्तिगत	रु. 300.00	व्यक्तिगत	रु. 150.00

जर्नल हेतु सदस्यता शुल्क बैंक ड्राफ्ट/चैक द्वारा निम्न पते पर भेजें

निदेशक

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान

6, प्रोफेसर रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र

उज्जैन - 456010 (मध्यप्रदेश)

दूरभाष - (0734) 2510978, फैक्स - (0734) 3510180

e-mail: mailboxmpissr@gmail.com, mpissr@yahoo.co.in

web: mpissr.org

ISSN 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)

वर्ष 20 दिसम्बर 2022 अंक 2

आदर्श राज्य की संकल्पना : भारतीय लोक कल्याण के विचार की समकालीन प्रासंगिकता 1
- संजीव कुमार शर्मा, चंचल एवं अनसुइया नैन

राजनीतिक इतिहास लेखन में सन् 1942 का बलिया 15
- कुँवर प्रांजल सिंह

पूर्व माध्यमिक स्तर के सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि एवं समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन 29
- संजीव कुमार शुक्ला

पहचान और विकास के लिए संघर्ष : पूर्वी उत्तर प्रदेश का निषाद समुदाय 36
- विपिन पटेल

गौ रक्षा और गौ सेवा की तीखी बहस : गाँधी के आईने से 49
- कोमल

चुनाव सुधार की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास 66
- सुधाकर कुमार मिश्र

महात्मा गाँधी का मानव प्रकृति का सिद्धान्त **73**
- हरीश दत्त

वृद्ध विमर्श से सम्बन्धित कहानियों पर दृष्टिपात **78**
- सोनिया माला

संगोष्ठी प्रतिवेदन
भारतीय संघवाद का बदलता हुआ समकालीन सन्दर्भ : चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ **85**
- विकास

पुस्तक समीक्षा
महात्मा गाँधी इक्कीसवीं सदी का भारतीय एवं वैश्विक परिप्रेक्ष्य (यतीन्द्रसिंह सिसोदिया, गोपालकृष्ण शर्मा, आशीष भट्ट) **94**
- संजय कुमार

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 2, दिसम्बर 2022, पृ. 1-14)

आदर्श राज्य की संकल्पना : भारतीय लोक कल्याण के विचार की समकालीन प्रासंगिकता

संजीव कुमार शर्मा*, चंचल† एवं अनसुइया नैन‡

पाश्चात्य दार्शनिक राज्य की उत्पत्ति के विषय को मानव जीवन के कल्याण से सम्बद्ध तो करते हैं, लेकिन उस पर कोई विस्तृत एवं ससंठित विचार प्रस्तुत नहीं करते। पश्चिम ने राज्य की उत्पत्ति के प्रश्न को बहुत बाद में सम्बोधित किया। पश्चिम के राजनीतिक चिन्तन का जन्मस्थान समझे जाने वाले, बहुमुखी प्रतिभा के केन्द्र और दार्शनिक प्रश्नों के प्रारम्भकर्ता कहे जाने वाले यूनान ने भी राज्य के आदर्श स्वरूप को महत्वपूर्ण प्रश्न माना। प्रस्तुत शोध आलेख में मुख्य रूप से प्राचीन भारतीय चिन्तन के उन तत्वों को रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है, जिनकी प्रासंगिकता आज भी विद्यमान है। राज्य के तिरोहित होने की भविष्यवाणी करने वालों से लेकर राज्य के विनिवेश का आग्रह करने वालों तक यह स्वीकार्यता विद्यमान है कि समाज के सभी वर्गों के भरण-पोषण और कल्याण की आश्वस्ति राज्य नामक उपकरण द्वारा ही सम्भव है।

*आचार्य एवं अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ (उ.प्र.)
E-mail:
†पोस्ट डॉक्टोरल फैलो, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)
‡पोस्ट डॉक्टोरल फैलो, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)

राज्य का उदय मनुष्य की संस्थागत आवश्यकताओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सोपान है। विश्वभर के दार्शनिकों ने राज्य के स्वरूप, उसकी कार्यप्रणाली और आयामों पर विचार करते समय राज्य की उत्पत्ति के विषय को समान रूप से महत्वपूर्ण माना है। पश्चिम ने राज्य की उत्पत्ति के प्रश्न को बहुत बाद में सम्बोधित किया। पश्चिम के राजनीतिक चिन्तन के जन्मस्थान समझे जाने वाले, बहुमुखी प्रतिभा के केन्द्र और दार्शनिक प्रश्नों के प्रारम्भकर्ता कहे जाने वाले यूनान ने भी राज्य के आदर्श स्वरूप को महत्वपूर्ण प्रश्न माना। सम्भवत: यूनानी नगर राज्यों में पारस्परिक शत्रुता और रक्तिम संघर्षों ने यूनानी विचारकों के समक्ष राज्य के विद्यमान स्वरूप से श्रेष्ठतर स्वरूप के प्रश्न को अधिक प्राथमिकता दी। इसलिये यूनानी नगर राज्य के सामूहिक निर्णय द्वारा सुकरात को विष दिये जाने की घटना पश्चिम के राजनीतिक चिन्तन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु है। सुकरात के शिष्य प्लेटो और प्लेटो के शिष्य अरस्तू - दोनों ने ही यूनान के छोटे-छोटे नगर-राज्यों में व्याप्त भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार, अज्ञान और स्वार्थ की राजनीति को नेतृत्व करते हुए देखा। इसलिये इन दोनों महान पाश्चात्य विचारकों ने अपने अनुभवों और दूरदृष्टि से सम्पूर्ण वृहत् समाज के लिए एक अच्छे राज्य का विचार सुसम्बद्ध रूप में प्रस्तुत किया। तकनीकी दृष्टि से और संरचनाओं की प्रकृति के आधार पर प्लेटो और अरस्तू एक-दूसरे से भिन्न दिखाई पड़ सकते हैं, परन्तु मूल रूप में दोनों की चिन्ता एक आदर्शवादी राज्य की कल्पना में परिणत होती है। इसलिये प्लेटो का आदर्श राजा ज्ञान की दृष्टि से दार्शनिक है, उच्च शिक्षित है, प्रशिक्षित है, परिवार एवं सम्पत्ति के आकर्षणों से दूर है तथा मानसिक एवं शारीरिक रूप से स्वस्थ है। साथ ही प्लेटो के आदर्श राज्य की सामाजिक व्यवस्था भी गुणानुसार विभाजित है। दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप का निषेध और अपने कर्त्तव्यों का यथाशक्ति पालन प्लेटो की सामाजिक व्यवस्था का न्यायिक आधार है। ऐसे राज्य में शासक वर्ग की भौतिक और शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व भी व्यवस्थाओं के पास ही है। इसी प्रकार अरस्तू भी तत्कालीन समय में विद्यमान अनेकानेक राजनीतिक संरचनाओं -- जिन्हें वर्तमान शब्दावली में संविधान भी कहा जाता है -- का अध्ययन करते हुए एक आदर्श संवैधानिक व्यवस्था का प्रतिपादन करता है। वस्तुत: नागरिकता, क्रान्ति, शिक्षा, न्याय, आदि विषयों पर सर्वथा प्रतिपादक सिद्धान्त देते हुए अरस्तू अपनी कल्पना के आदर्श राज्य को ही अग्रेसारित करता है। यह भी संयोग मात्र नहीं है कि प्लेटो एवं अरस्तू दोनों ही राज्य की उत्पत्ति के विषय में कुछ संकेतों मात्र से कार्य पूर्ण कर लेते हैं। समाज जीवन के अनेकानेक विषयों पर विस्तार से टिप्पणी करने वाले ये दोनों दार्शनिक राज्य की उत्पत्ति के विषय को मानव जीवन के कल्याण से सम्बद्ध तो करते हैं परन्तु उस विषय पर कोई विस्तृत एवं सुसंगठित विचार प्रस्तुत नहीं करते।

कालान्तर में यूनानी सभ्यता के अवसान के उपरान्त रोमन विचार पद्धति विकसित हुई। रोमन दार्शनिकों ने राज्य और चर्च के बीच निरन्तर बढ़ते संघर्ष को देखा और समाज जीवन पर आधिपत्य करने की चर्च और राजसत्ता की प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप भीषण नरसंहार, युद्ध, रक्तपात और विनाश देखा। सम्भवत: इसी का परिणाम है कि रोमन दार्शनिकों

की सुदीर्घ शृंखला में सिसरो, पोलिबियस, सेण्ट थॉमस एक्विनास, सेंट ऑगस्टाइन, मार्सीलियो ऑफ पेडुआ, आदि सभी विचारकों ने चर्च और राज्य के सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में एक श्रेष्ठ और आदर्श राज्य की कल्पना की जहाँ संघर्षों की अनुपस्थिति हो और मनुष्यों का अधिकतम हित साधन हो। इस प्रकार यूनानी एवं रोमन राजनीतिक चिन्तन राजसत्ता के संचालन में निरत व्यक्तियों को श्रेष्ठ बनाने का विचार करता रहा और मनुष्यों के कल्याण हेतु अपने विचार के अनुरूप एक आदर्श राज्य की कल्पना भी करता रहा। पश्चिम के समाजों ने राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्थाओं के स्वेच्छाचारी, निरंकुश और आततायी स्वरूप को बार-बार देखा। व्यवस्थाओं के विरुद्ध सामूहिक संघर्षों को भी देखा। युद्ध की निरन्तरताओं को भी देखा और नागरिकों के सार्वजनिक दमन एवं शोषण को भी देखा। इसके परिणामस्वरूप ही राजतन्त्र के प्रति सम्पूर्ण पाश्चात्य समाज में आज एक गहरे बैठी हुई वितृष्णा और सहज तिरस्कार तथा अस्वीकार का भाव है, परन्तु धर्मसत्ता को सामाजिक अधिकार दिये जाने की एक सार्वकालिक अस्वीकृति भी है। इसलिये सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में चर्च में उपस्थिति अथवा धर्म संस्थाओं से नियमित संवाद एवं सहमति की आवश्यकता के बाद भी पाश्चात्य समाज नियमन और व्यवस्थाकरण के लिए राज्य की ओर ही उन्मुख रहते हैं। मनुष्य के जीवन का सर्वांगीण विकास राज्य की परिधि में ही सम्भव है,यह विचार अरस्तू से लेकर आज तक निरन्तर विद्यमान है। सम्भवत: थॉमस हाब्स पहला पाश्चात्य विचारक है जो क्रमबद्ध रूप से राज्य की उत्पत्ति के प्रश्न पर दृष्टिपात करता है। हॉब्स यह जिज्ञासा व्यक्त करता है कि हम राज्य की आज्ञा का पालन क्यों करते हैं? यदि राज्य अस्तित्व में है तो इसके उदय का स्थान क्या है? इसके विकास का क्रम क्या है? राज्य से पूर्व की संस्थाओं की प्रकृति क्या है? इन सब प्रश्नों पर कालान्तर में जॉन लॉक और जीन-जैक्स रूसो भी विचार करते हैं। संविदावादी विचारकों की यह प्रसिद्ध त्रयी राज्य की उत्पत्ति के विषय के प्रश्न को राजनीतिक चिन्तन के केन्द्र में लाने में समर्थ हो गयी। तत्पश्चात् ही मातृसत्तामक सिद्धान्त, पितृसत्तात्मक सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, दैवीय सिद्धान्त तथा विकासवादी सिद्धान्त आदि के द्वारा पृथक्-पृथक् विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के विषय में अपने मत प्रकट किये। कालान्तर में पश्चिम के अनेक महत्वपूर्ण दार्शनिकों ने राज्य के कार्य की परिधि और सीमाओं के प्रश्न को भी सम्बोधित किया, जिसके परिणामस्वरूप आदर्शवादी, व्यक्तिवादी और उदारवादी विचारधाराओं का जन्म हुआ। उपयोगितावाद, समाजवाद, साम्यवाद, आदि विचारधाराओं ने भी राज्य के कार्य व्यवहार पर चिन्तन करते हुए मनुष्य के जीवन को श्रेष्ठ बनाने की सम्भावनाओं को मुख्य बिन्दु माना है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन राज्य के विभिन्न आयामों पर विचार करते हुए अपनी सांस्कृतिक और क्षेत्रीय पृष्ठभूमि के साथ राज्य के मानव जीवन में अतिक्रमण की आशंकाओं से चिन्तित भी है, परन्तु मानव के सर्वांगीण विकास की अपेक्षाओं के लिए भी राज्य पर ही निर्भर है। राज्य और व्यक्ति अन्तर्सम्बन्धों का विरोधाभासी विचार पश्चिम के चिन्तन को निरन्तर प्रभावित करता रहा है। अत्याधुनिक युग में निजीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण के लगभग सर्वव्यापी विचार से

पूर्व भी राज्य के विनिवेश और राज्य की प्रतिनिवृत्ति राजनीतिक चिन्तन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुके थे। वामपन्थी वैचारिकी ने भी पाश्चात्य समाजों में व्याप्त आर्थिक वैषम्य और शोषण को राज्य द्वारा सम्पोषित किये जाते हुए देखा और साम्यवादी विचारधारा के जनक समझे जाने वाले कार्ल मार्क्स ने राज्य को शोषण का सहायक यन्त्र भी घोषित कर दिया।

सर्वहारा की तानाशाही की कल्पना करने वाले और पूँजीपति समाज को हिंसा द्वारा विनष्ट कर देने का आग्रह करने वाले कार्ल मार्क्स ने राज्य के तिरोहित होने की भविष्यवाणी तो की परन्तु मानव कल्याण के लिए सामूहिकता के तन्त्र की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया। इसलिये साम्यवादी विचार की व्यावहारिक परिणति सामान्यत: अधिनायकवादी एकदलीय सत्ताओं में हुई। वहाँ भी यह प्रश्न अभी तक अनुत्तरित है कि राज्य का विकल्प लोककल्याण की आश्वस्ति होगा या नहीं। आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में इतिहास का अन्त, विचारधारा का अन्त, ईश्वर की मृत्यु, जैसी सभी वैचारिक घोषणाएँ पूँजीवाद की कथाओं में ही परिणत हुईं। साम्यवाद के अवसान ने उदारवादी कही जाने वाली और तदन्तर नव-उदारवाद का चोला धारण करने वाली विचारधारा को अजेय मान लिया। परन्तु पश्चिम का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक चिन्तन आज भी इस प्रश्न से जूझ रहा है कि राज्य के बिना मनुष्य का कल्याण होगा अथवा राज्य के अन्तर्गत ही होगा?

विश्व की प्राचीनतम सभ्यता, संस्कृति, समाज, साहित्य और रचना के केन्द्र भारतवर्ष की दृष्टि स्वाभाविक रूप से विशिष्ट रही है। इसके ऐतिहासिक कारणों में जाने से पूर्व भारत की सांस्कृतिक परम्परा और ज्ञान, विज्ञान की अक्षुण्ण शृंखला पर दृष्टिपात करना अपरिहार्य है। वैदिककाल से ही भारत में संस्थाओं और संरचनाओं को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं समझा गया। राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था से अपरिचित नहीं थी। सामाजिक व्यवस्था सांस्कृतिक संरचनाओं से असम्बद्ध नहीं थी। साहित्य रचना समाज की उपेक्षा नहीं कर सकती थी। धर्मचिन्तन लोककल्याण से परे नहीं था। राजसत्ता स्वतन्त्र नियामक संरचना नहीं थी। धर्म और शासन में संघर्ष नहीं थे। गुरुकुलों, आश्रमों और विद्वानों का शासकों से अपरिचय नहीं था। कर्मकारों, चर्मकारों, काष्ठकारों, आदि कौशल सम्पन्न समाज वाणिज्य और व्यापार में सम्बद्ध व्यक्तियों से नियमित सम्पर्क और संवाद में था। राजा की सभाओं में वृत्ति, कौशल, विद्या, सम्पत्ति, आदि से संयुक्त समाज जीवन का वैविध्य उपस्थित था।[1]

प्राचीन भारतीय चिन्तन में तो राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की दशा पर भी विस्तृत विचार विमर्श किया गया था।[2] राजा, राज्य, दण्ड, दण्डिक की कल्पना से पूर्व भी समाज जीवन के धर्म आधारित संचालित होने की संकल्पना ने अराजकता का परित्याग करना और राजत्व की पदप्रतिष्ठा को अपरिहार्य माना और इसलिये राज्य की उत्पत्ति, कार्य, अनिवार्यता, सीमा तथा भविष्य, आदि सभी आयामों पर प्राय: सभी विचारकों ने अपने मत प्रकट किए।

प्रत्येक नागरिक स्त्री-पुरुष, राजा-रानी, अमात्य-पुरोहित, सेनाध्यक्ष-दुर्गपाल, गणिका, द्वारपाल आदि अपने निर्धारित धर्म से बँधे थे। उनके अनुत्तरदायी अथवा स्वेच्छाचारी

होने की कोई भी सम्भावना अथवा अवकाश विद्यमान नहीं था। राजाओं की प्राथमिकता में प्रजाहित और लोकरंजन वर्णित था। लोक की आराधना के लिए राजा से अपना सर्वाधिक मूल्यवान तथा प्रिय त्याग देने के अपेक्षा थी।[3] राज्य सम्पूर्ण सामाजिक संरचना का एक अभिकरण था। सात अंगों पर आधारित राजव्यवस्था एक सुव्यवस्थित एवं सुगठित उपकरण के रूप में कार्य करती थी, अपने समस्त अधिकारों एवं शक्ति के साथ-साथ सामाजिक धर्म और दायित्व से नियन्त्रित रहती थी। राजसत्ता को मर्यादित बनाये रखने के लिए विभिन्न प्रकार के उपबन्ध एवं प्रावधान विद्यमान थे। इसलिये विस्तृत भारतीय इतिहास में सहस्रों वर्षों से आततायी, निरंकुश, स्वेच्छाचारी और एकाधिकारवादी राजाओं और शासकों के उदाहरण दुर्लभ हैं। यद्यपि अविनयी और अत्याचारी शासकों के उल्लेख हैं, परन्तु उन्हें भी धर्म द्वारा नियन्त्रित किये जाने का और समाज द्वारा उनका राजधर्म उन्हें आग्रहपूर्वक स्मरण कराये जाने का भी उल्लेख साथ-साथ विद्यमान है। इसके विपरीत प्रजावत्सल, उदार हृदय, परोपकारी, त्यागी, तपस्वी, ज्ञानी, विद्वान, पराक्रमी, शौर्यशाली और सहृदय, संवेदनशील शासकों के अनेकानेक वर्णन एवं उल्लेख सर्वत्र उपलब्ध हैं। इसलिये भारत में राज्य लोककल्याण की दशाएँ सुनिश्चित करने का एक कारक मात्र है। हालाँकि राजधर्म का पालन करते हुए शासक से महाभारतकार और स्मृतिकार यह अपेक्षा करते हैं कि वह समाज के अन्य क्षेत्रों के व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने धर्म का पालन सुनिश्चित कराए ताकि राजनीतिक व्यवस्था अन्य संरचनाओं से संगति बैठाते हुए मनुष्य जीवन में कल्याण की सभी आवश्यकताओं की प्रतिपूर्ति सुनिश्चित कर सकें।[4] अतः राज्य का मूल स्वरूप भारतीय परम्परा में लोक कल्याणकारी ही है। यहाँ यह भी रेखांकित किया जाना उपयोगी होगा कि भारत की लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा पश्चिम की लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा से पूर्व की तो है ही, साथ ही अनेक दृष्टियों से भिन्न भी है।

भारतीय लोक कल्याण की परम्परा भारत के विशाल एवं विशद धर्मग्रन्थों, उपनिषदों, साहित्य रचनाओं और शास्त्र रचनाओं में सर्वत्र समृद्ध और व्यापक रूप में दिखाई पड़ती है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय लोककल्याण के विचार के समय मनुष्यों के साथ-साथ पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों के योगक्षेम की चिन्ता करता है। वेद का ऋषि प्रार्थना करते समय प्राणियों के साथ-साथ सबके कल्याण से समस्त प्रजाजनों, पशु-पक्षियों एवं जीवधारियों को भी संयुक्त करता है। ऋषि प्रार्थना करता है - जिससे भी उचित एवं आवश्यक समझते हो उससे हमें अभय करो। हमारे साथ जीवनयापन करने वाले मनुष्यों का कल्याण करो। हमारे पशुओं को भयमुक्त करो।[5] वेद का ऋषि अन्य-अन्य स्थानों पर इस प्रकार की प्रार्थना करता दिखाई पड़ता है। दस्युओं, आक्रान्ताओं, लुटेरों और चोरों से नागरिकों को बचाने की और उनकी सम्पत्ति, जीवन तथा बन्धु-बान्धुवों को सुरक्षित रखने की अपेक्षा महाभारतकार भी राज्य से करता है। भारत की लोककल्याण की इस अवधारणा में सबका सुख, सबका मंगल, सबका भद्र, सबका अभ्युदय और सबका कल्याण सन्निहित है।[6] इसलिये योगक्षेम का विचार वैदिक परम्परा से प्रारम्भ होकर भिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों में दिखाई पड़ता है। उपनिषद् का ऋषि

सबके कल्याण की चिन्ता करते समय प्रार्थना करता है कि सभी सुखी हों, सभी निरामय हों, सभी नीरोगी हों, सबका कल्याण हो और किसी को भी कष्ट का कोई अंश भी प्राप्त न हो। यह लोककल्याण का भाव मूर्त रूप में राजव्यवस्था के दायित्व से सम्बद्ध है, जिसे कहीं राजधर्म कहा गया है तो कहीं दण्डनीति कहा गया है। परन्तु इसका परम ध्येय यही है कि समस्त लोक सुखी हो। यह वैश्विक लोककल्याण का भारतीय उद्घोष सनातन संस्कृति का मूलभाव है। वैदिक प्रार्थनाओं में ऋषि समस्त जगत् को शुभकर्मों से पवित्र करने और सभी के कल्याण के हेतु विचार करता है। इस सभी के कल्याण में यह भाव भी सन्निहित है कि विचार की दृष्टि से, बोलचाल की दृष्टि से, उपासना पद्धति की दृष्टि से अथवा अन्य किसी भी दृष्टि से मनुष्यों में विविधता विद्यमान होगी। यह विविधता उन्हें एक साथ चलने में बाधित नहीं करती है। वैदिक ऋषि यह प्रार्थना करता है - जिस प्रकार पृथ्वी भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वाले और भिन्न-भिन्न पन्थों का अनुसरण करने वाले मनुष्यों को समान रूप से धारण करती है।[7] उसी प्रकार हम सब अपनी विविधताओं का सम्मान करते हुए एक साथ चलें, साथ भोजन करें, साथ में पराक्रम करें। साथ में जानें, साथ में बोलें, साथ यात्रा करें।[8] यह विचार सहचर्य का है, समरूपता का नहीं। विविधता को बनाये रखते हुए एकत्व का है, एकरूपता का नहीं। इसलिये वैदिक प्रार्थनाओं में ऋषियों की वाणी अपनी विविधता से दैदीप्यमान तो है, परन्तु एकरूप कदापि नहीं है। एक ही देवता की प्रार्थना के समय उसकी स्तुति में भी विभिन्नता है और उससे अपेक्षाओं में भी विभिन्नता है। परन्तु इन सब भिन्न अपेक्षाओं का लक्ष्य लोक कल्याण ही है। इसलिये वेद का ऋषि भूमि को माता कहता है[9] और भूमि पर शासन करने वाले शासक से यह अपेक्षा करता है कि समस्त प्रजा इनके प्रति अनुरागी हो। हे राजा! ये प्रजाजन सब मिलकर तुम्हें चाहें।[10] ऐसी प्रार्थना में वस्तुत: आधुनिक औचित्यपूर्णता का सिद्धान्त प्रतिबिम्बित होता है। इसका आशय है कि यह शासन व्यवस्था अपने उचित होने, न्यायपूर्ण होने, संवेदनशील होने, तथा उत्तरदायी होने पर ही प्रजा को प्रसन्न रख सकेगी।

अत: प्राचीन भारतीय चिन्तन परम्परा राज्य के स्वरूप, कार्यप्रणाली और अस्तित्व को जनसहमति और लोक स्वीकृति के आधार पर ही औचित्यपूर्णता प्रदान करती है। भारत का यह लोकमंगल और लोककल्याण का विचार किसी भी प्रकार की सीमाओं से परे है। यह किसी क्षेत्र, जाति, धर्म, पन्थ, सम्प्रदाय, उपासना पद्धति, भाषा, आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करता। भारत के लोककल्याण के विचार में समस्त जगत् सन्निहित है।[11] अथर्ववेद का एक ऋषि मिट्टी को उपजाऊ बनाने के लिए किसानों की सहायता करने वाली मेंढकी की भी स्तुति करता है।[12] एक वैदिक प्रार्थना में नदियों, पर्वतों, समुद्रों, मेघों तथा वायु की यह कहकर स्तुति की गई है कि आप सब अपना आचरण एवं व्यवहार ऐसा करें, जिससे सबके योगक्षेम की रक्षा हो।[13] यह योगक्षेम का विचार भारतीय परम्परा के चारों पुरुषार्थों को समाहित करता है। समान्यत: भारतीय चिन्तन परम्परा का अवलोकन करने वाले टिप्पणीकारों को यह भ्रान्ति हो जाती है कि भारतीय चिन्तन परम्परा अध्यात्म उन्मुखी मात्र है और वह त्याग एवं तपस्या को सर्वाधिक महत्व देती है। वर्तमान जीवन की उपेक्षा करती है और पारलौकिक

सुखों की चिन्ता करती है, जबकि सत्य यह है कि चारों आश्रमों में सभी दार्शनिकों ने गृहस्थ आश्रम को सर्वाधिक महत्व दिया है। इसका महत्वपूर्ण कारण यह है कि गृहस्थ आश्रम ही अन्य तीनों आश्रमों का पालन पोषण कर सकता है। भारतीय चिन्तन पारलौकिकता को महत्वपूर्ण मानता है, परन्तु वर्तमान जीवन की उपेक्षा कदापि नहीं करता। भौतिक समृद्धि, आर्थिक उत्कर्ष और संसाधन सम्पन्नता को मनुष्य के जीवन के लिए महत्वपूर्ण समझता है। परन्तु इस दृश्यमान उन्नति के मूल में विद्यमान पारमार्थिक निस्सारता को रेखांकित भी करता है। इसलिये वेद, उपनिषद् और महाकाव्यों का ऋषि त्यागपूर्वक उपयोग की बात करता है।[14] इसका अर्थ ऐश्वर्य का उपयोग किया जाना है, परन्तु उन पर निर्भर नहीं रहना है। उसमें इस प्रकार संलिप्त नहीं रहना है कि अन्य धर्मों की च्युति हो जाये। इसे ही श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अनासक्ति योग कहते हैं जिसमें सुख, दु:ख, लाभ, हानि, जय, पराजय सब में नि:स्पृह भाव से आगे बढ़ना है। कामनाओं पर नियन्त्रण रखना है और अपने दायित्वों को भी पूर्ण करना है तभी मनुष्य जीवन समाजोपयोगी हो सकेगा। इसके लिए महाभारतकार अनेक स्थानों पर यह संकेत करते हैं कि राजसत्ता का यह परम दायित्व है कि वह चारों आश्रमों को अपने-अपने धर्मों में लगाये रखे।[15] राजा से यह अपेक्षा की गई है कि वह प्रजा का पालन इस प्रकार करे जैसे पिता अपनी सन्तानों की चिन्ता करता है और उन्हें निर्भय बनाता है। एक श्रेष्ठ राजा के राज्य में प्रजा इस प्रकार भयमुक्त जीवनयापन कर सके जिस प्रकार पिता के घर में उसकी सन्तान निर्भय विचरण करती है।[16] राजा का यह पितृभाव उसे उत्तरदायी भी बनाता है, उसे संवेदनशील भी बनाता है और शासन व्यवस्था को स्वेच्छाचारी होने से रोकता है। महाभारतकार का मानना है कि सम्पूर्ण प्रजा में पिता का भाव रखने वाले राजा को न्याय करते समय प्रत्येक दशा में निष्पक्ष होना चाहिए। न्याय व्यवहार में राजा का अपक्षपाती होना अनिवार्य है।[17] प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों पर ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जहाँ राजा मनुष्य के कल्याण, लोक की आराधना और प्रजा के हित के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए आतुर है। इसका एक प्रमुख कारण है कि राजाओं का एकमात्र धर्म प्रजारंजन माना गया है।[18] यह प्रजारंजन वस्तुत: लोक कल्याण का ही विचार है। इस विचार की स्थापना के लिए राजा को समाज में अनुशासन की व्यवस्था करनी होगी, विवादों का शमन करना होगा और नागरिकों की रक्षा के लिए चिन्तित रहना होगा।[19] आपत्तिकाल की पूर्वानुमान आधारित व्यवस्था सुनिश्चित करनी होगी तथा उनके भरण-पोषण और आजीविका के बारे में सोचना होगा।[20] कठिन परिस्थितियों में उनके बन्धु-बान्धवों के सहारे न छोड़कर राजसत्ता की ओर से आश्वस्त करना होगा[21], तभी शासक का पितृभाव समाज को स्वीकार्य होगा और यह पितृभाव भारतीय शासकों की मूल प्रवृत्ति के रूप में निरन्तर दिखाई पड़ता है।[22] यहाँ यह इंगित करना समीचीन होगा कि पाश्चात्य विचार परम्परा में पितृभाव को पितृसत्तात्मकता के दूषित एवं संकुचित सन्दर्भों में ही समझा जाता है। परन्तु भारतीय चिन्तन परम्परा का यह पितृभाव रक्षा का भाव है, आश्वस्ति का भाव है, अपनत्व का भाव है, गुरुत्व का भाव है, बड़प्पन एवं दायित्व का भाव है। यह राजा का अधिकार नहीं है, अपितु उसका

स्वाभाविक धर्म है। इसलिये महाकवि कालिदास राजसत्ता को लोकतन्त्र के विश्रामहीन दायित्व के रूप में निरूपित करते हैं।[23] वे यह इंगित करते हैं कि जिस प्रकार सूर्य बिना थके और बिना रुके रात-दिन विश्व को प्रकाशित करता है उसी प्रकार राजा को भी अहर्निश प्रजा की सेवा में संलग्न रहना है।[24] यह प्रजा की सेवा लोक के कल्याण के लिए नीतियों के निर्माण, क्रियान्वयन और निर्णयन में प्रतिबिम्बत होती है। यद्यपि यह भी स्पष्ट है कि इनमें से कोई भी कार्य राजा स्वतन्त्र रूप में अथवा एकाकी निर्णय से नहीं कर सकता।[25]

प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में अनेकानेक स्थानों पर यह उल्लिखित है कि राजा मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के अनुरूप ही निर्णय ले सकता है। इस परामर्श की अनिवार्यता के पीछे यह भी सहज- स्वाभाविक तर्क है कि समाज के विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों से मन्त्रिपरिषद् में प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित सदस्यों का सामान्य नागरिकों से संवाद राजा की अपेक्षा अधिक होगा अथवा आज की दृष्टि से लोकतन्त्र के उच्च पदों पर आसीन व्यक्तियों के लिए यह कदापि सम्भव नहीं है कि वे अपना समय सम्पूर्ण रूप से समाज में दे सकें। वृहद् नागरिक समाज के कल्याण के लिए कल्पना करना, विचार करना, विभिन्न प्रशासनिक दायित्वों में संलग्न लोकसेवकों को यथा आवश्यक निर्देश देना, परराष्ट्रों की सूचनाएँ प्राप्त करना, आदि अनेकानेक दायित्व शासकों की प्रतिदिन की कार्यप्रणाली का अंश होते हैं। अत: उन्हें जन-आकांक्षाओं और जनमत की समझ तथा तदनुरूप अपनी नीतियों और निर्णयों में संशोधन के लिए भिन्न सूचना स्रोतों पर निर्भर रहना होता है। इनके लिए वर्तमान समय में इंटेलिजेन्स ब्यूरो, रिसर्च तथा एनालिसिस विंग, लोकल इंटेलिजेंस यूनिट, आदि संस्थाएँ सरकारों की सहायता करती हुई दिखाई पड़ती हैं। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में महाभारत, अर्थशास्त्र और अन्य ग्रन्थों में राजाओं को गुप्तचरों के माध्यम से राज्य के प्रत्येक पक्ष की सूचना प्राप्त होती थी। कौटिल्य ने यह भी व्यवस्था की थी कि गुप्तचर राजा को प्रतिदिन अत्यन्त एकान्त में यह सूचित करें कि राजा के प्रति लोगों के मन में कैसा भाव है। लोक सेवक प्रजा का शोषण तो नहीं करते हैं, कोई उपद्रव की योजना तो नहीं है, कोई अधिकारी भ्रष्टाचार में लिप्त तो नहीं है और यह सूची पर्याप्त विस्तृत है। इसी प्रकार गुप्तचरों के माध्यम से लोगों की राज्य के प्रति आस्था, शासन के निर्णयों की स्वीकृति तथा नीतियों से सहमति के विषय में जानना लोक प्रशासन का एक महत्वपूर्ण अंग था। इसमें कौटिल्य अपने मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के बारे में भी नियमित रूप से गुप्त सूचनाओं का एकत्रीकरण किया जाना और उन्हें राजा के पास गोपनीय रूप से पहुँचाया जाना सुनिश्चित करता है। इन सूचनाओं माध्यम से ही राजा लोककल्याण की नयी योजनाएँ बना सकता है और प्रजाहित के निर्णयों में सुस्थिर भाव से संलग्न रह सकता है।

संस्कृत की साहित्य परम्परा में राजा को प्रजावत्सल और सर्वभूतहितरत माना गया है। यह सभी प्राणियों, जीवधारियों के हित में संलग्न राजा समस्त लोक के कल्याण के भाव से प्रत्येक कार्य करता है। महाकवि भवभूति के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ उत्तररामचरितम् में राम उद्घोष करते हैं कि राजा के रूप में लोक की आराधना के लिए मैं स्नेह, दया और सुख के समस्त

भावों के त्याग को तत्पर हूँ।[26] महाकवि कालिदास का राजा दिलीप रघुवंश महाकाव्य में नन्दिनी धेनु की रक्षा के लिए सिंह के समक्ष अपना जीवन अर्पित करता है। गाय के जीवन को बचाने के लिए वह सिंह से प्रार्थना करता है कि शासक का मुख्य कार्य ही प्रजा को किसी भी प्रकार की क्षति से बचाना है।[27] इसलिये हे सिंह! इस गाय के भक्षण के विचार को त्यागकर आप मेरा भक्षण करें और कृपया मेरे यशरूपी शरीर पर दयालु हों।[28] महाकवि कालिदास के ही एक अन्य विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ अभिज्ञानशाकुन्तलम् का राजा दुष्यन्त अपने अधिकारियों को यह आदेश देता है कि मेरी प्रजा में जो भी अपने किसी प्रिय से, सम्पत्ति से, भूमि से, धन से वंचित हो गया है अथवा पाप के अतिरिक्त किसी विपत्ति से ग्रस्त हो गया है, उसके प्रत्येक प्रिय के रूप में, बन्धु के रूप में, अपने के रूप में, सहयोगी के रूप में और साथी के रूप में दुष्यन्त राजा, मैं स्वयं विद्यमान हूँ।[29] राजा की यह घोषणा लोक के कल्याण की अद्भुत अभिव्यक्ति है।

महाभारत में देवर्षि नारद महाराज युधिष्ठिर से अनेक प्रश्न करते हैं और उनमें वे लोककल्याण के प्रति राजा की सहज सजगता और निष्ठा को रेखांकित करते हैं। युधिष्ठिर को अनाथों, वृद्धों, बालकों, स्त्रियों, रोगियों, आदि के बारे में विशिष्ट व्यवस्थाएँ करने का सुझाव देते हैं।[30] मार्गों, जलाशयों, उद्यानों, नदियों और वृक्षों के बारे में राजव्यवस्था से अपनी अपेक्षाएँ संसूचित करते हैं।[31] गुरुकुलों, विद्वानों, तपस्वियों और अरण्यवासियों के बारे में राजा से अधिक ध्यान देने का आग्रह करते हैं।[32] न्याय और व्यवहार की प्रक्रियाओं में किसी भी प्रकार के भेदभाव का निषेध करते हैं।[33] कठिनाई में और किसी आपदा में त्रस्त हुए नागरिकों के लिए राजा को सहृदय, संवेदनशील और उदार रहने का आग्रह करते हैं। इसी प्रकार मनु, कौटिल्य, कामन्दक, शुक्र, आदि विचारक भी राजाओं के अधिकारों एवं दायित्वों का वर्णन करते समय प्रजाहित को सर्वोपरि स्थान देते हैं। प्रजा का कल्याण राजा के हित में प्राथमिक है।[34] वस्तुत: राजा का हित प्रजा के कल्याण में ही सन्निहित है। कौटिल्य के अनुसार प्रजा के हित के इतर राजा का कोई हित सम्भव ही नहीं है। शतपथब्राह्मण में राजा पदारोहण से पूर्व यह शपथ लेता है कि वह अपने मन, वचन, कर्म से आजीवन प्रजा के कल्याण में ही संलिप्त रहेगा।

महाभारतकार ने यह व्यवस्था की है कि राजा अभिषेक से पूर्व यह शपथ ले कि वह आज के बाद प्रजाजनों के कल्याण में ही लगा रहेगा और यदि वह अपने इस निर्धारित धर्म से च्युत होगा तो उसे इस पद पर रहने का कोई अधिकार नहीं होगा।[35] राजाओं को राज्याभिषेक के समय यह उद्घोष करना था कि अब मुझे कोई दण्डित नहीं करेगा, अपितु मैं राजधर्मरूपी धर्म को धारण करते हुए अन्य सभी के दण्ड का निर्धारण कर सकूँगा। परन्तु उसी समय राजपुरोहित कुशा के प्रहार से राजा को सतर्क करता था कि तुम अदण्ड्य नहीं हो, अपितु धर्म के नियन्त्रण में हो। तुम्हारे आचरण को धर्म मर्यादित करेगा और तुम्हारा धर्म राज धर्म के रूप में अधिकार नहीं वरन् प्रजारंजन का दायित्व है। इस प्रजारंजन अथवा लोककल्याण अथवा योगक्षेम के निर्वहन में राजा को प्रत्येक क्षण संलिप्त रहना है। यही लोककल्याण का भाव उसके राजत्व की समाज में प्रतिष्ठा करता है।

भारतीय राजनीतिक परम्परा में राजधर्म का केन्द्र राजा को माना गया है। राज्य के सप्तांग का एक अंग होते हुए भी राजा राज्य की सम्प्रभुता को धारण करता है। राजा ही शासन की सम्पूर्ण व्यवस्था का कर्णधार है। वह एक प्रकार से सातों अंगों का संयोजक है और प्रजा के हित को सप्तांग से सम्बद्ध करने का कारक भी है। राजा के अभाव में सप्तांग के शेष छह अंग निराधार हैं। इसीलिये कई बार संस्कृत शास्त्रों के उल्लेख से कुछ कतिपय टिप्पणीकारों ने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि राजा ही राज्य का पर्यायवाची है। परन्तु इसे सर्वथा भिन्न प्रकार से समझा जा सकता है। राज्याध्यक्ष के नाते भारतीय चिन्तन परम्परा राजा में जिन गुणों की अपेक्षा करती है वे उसे स्वाभाविक रूप से देवत्व के समीप लाते हैं। वह समस्त अधिकारों का स्रोत तो है, परन्तु साथ ही समाज के सभी मनुष्यों के धर्मों का नियामक भी है।[36] राजा से ही यह अपेक्षा की गई है कि वह प्रजाजनों को अपने-अपने धर्म में लगे रहना सुनिश्चित करे। उसके व्यक्तित्व और गुणों के सम्बन्ध में व्यास, मनु, कौटिल्य, शुक्र, आदि विचारक जिस प्रकार का वर्णन करते हैं उससे यह स्पष्ट है कि राजा एक सर्वगुणसम्पन्न नायक है। वह भौतिक, व्यावहारिक और मानवीय मूल्यों से संयुक्त होकर राज्य की उन्नति, प्रगति, रक्षा और शक्ति का स्रोत बनता है।[37] इसलिये लोक कल्याण का सुनिश्चयन राजा के अभिषिक्त होने पर ही माना गया है। महाभारतकार ने राजा विहीन राज्य की अराजक स्थिति के दोषों और दुष्प्रभावों का विस्तार में वर्णन किया है। वेद में ऋषि राजा से यह आग्रह करता है कि यह तुम्हारा राष्ट्र है, यह तुम्हें अन्नोत्पादन, समाज कल्याण और रक्षा हेतु प्रदान किया जा रहा है। तुम शुभ करो और नियमपूर्वक इस राजत्व को धारण करो।[38] इसी प्रकार की कई घोषणाएँ वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। प्रजा के कल्याण में सन्नद्ध रहने में राजा की प्रतिज्ञा प्राचीन भारत के लोककल्याण की आश्वस्ति है।[39] राजा का धर्माचरण ही लोककल्याण के प्रयोगों में सन्निहित है। वह दण्डनीति के अनुरूप समस्त प्रजाजनों का पालन करेगा और अपने धर्म से कभी भी च्युत नहीं होगा। इससे यह भी स्पष्ट है कि पश्चिम में सहस्राब्दियों बाद दिये गये विधि के शासन के विचार का स्रोत भी भारतीय चिन्तन ही है। राजा विभिन्न प्रकार से अपनी योग्यताओं और क्षमताओं की सार्वजनिक प्रस्तुति कर अन्य व्यक्तियों में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करता है और राजनियमों के प्रति निष्ठावान आचरण का आश्वासन देता है। इसलिये राजा के आचरण और व्यवहार को धर्म द्वारा मर्यादित एवं लोक सम्मति द्वारा नियन्त्रित रखा गया है।[40] किसी भी महत्वपूर्ण निर्णय से पूर्व विद्वानों, पुरोहितों तथा मन्त्रियों से परामर्श करने की अनिवार्यता राजा को स्वेच्छाचारी होने से रोकती है और उसके कार्यों को विधिसम्मत सम्मान प्रदान करती है। महाभारत, मनुस्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, अत्रिसंहिता, याज्ञवल्क्य स्मृति, शुक्रनीति, आदि ग्रन्थों में राजा के दायित्व का वर्णन करते समय जो विस्तृत कार्यसूची इंगित की गई है वह जीवन के प्रत्येक आयाम का स्पर्श करती है।[41] इसलिये वर्तमान लोककल्याणकारी राज्य अवधारणा से परे प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की विचार शृंखला में समाज जीवन के अधिकतम सम्भव क्षेत्रों की चिन्ता की गई है।

समकालीन भारतीय समाज और वैश्विक परिदृश्य में अनेकानेक प्रश्न राजव्यवस्था को कठिनाई में डालते हुए प्रतीत होते हैं। वैश्वीकरण के उपरान्त राज्यों की सम्प्रभु शक्ति निश्चित रूप से दुर्बल हुई है। आधुनिकीकरण, तकनीक और प्रौद्योगिकी के विस्तार ने मनुष्य जीवन के विभिन्न पक्षों को दूर तक प्रभावित किया है। राष्ट्र राज्यों की सीमाओं की रक्षा, नागरिकों का भरण पोषण, उत्तम स्वास्थ्य, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, पीने योग्य पानी, शान्तिपूर्ण विधि व्यवस्था, द्रुत यातायात, परिवहन के अत्याधुनिक साधन, त्वरित नगरीकरण, ऊर्जा के विकल्प, प्राकृतिक संसाधनों का इष्टतम उपयोग, आदि ऐसी अनेकानेक नयी और विकराल समस्याएँ वर्तमान राष्ट्र-राज्यों के शासकों के समक्ष उपस्थित हैं। विगत लगभग 400 वर्ष से लोकतन्त्र के आधुनिक स्वरूप को भी स्थानीय परिवर्तनों के साथ राज्य व्यवस्था का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लक्ष्य मान लिया गया है। सामाजिक प्रगति, आर्थिक ऐश्वर्य और वैश्विक प्रभुत्व की प्रतिस्पर्धा में विकास के सभी मानदण्डों की परिभाषाएँ बदल गई हैं। पर राष्ट्र सम्बन्धों के नियमों और सिद्धान्तों में आर्थिक आयामों की वरीयता स्थापित हो गई है। वैश्विक आपदाओं ने सम्पूर्ण विश्व को चिन्तित किया है और स्वास्थ्य सेवाओं का सुदृढ़ीकरण प्रत्येक राज्य की प्राथमिकता बन गई है। आण्विक शस्त्रों की प्राप्ति की प्रतिस्पर्धा भी घोषित नि:शस्त्रीकरण के साथ-साथ पल्लवित हो रही है। लोकतन्त्रों के अनेक क्षेत्रीय संस्करण सामने आ रहे हैं और साथ ही धर्म आधारित अथवा विचारधारा आधारित एकाधिकारवादी शासन भी आर्थिक समृद्धि का प्रतिमान बन रहे हैं। इस परिदृश्य ने विश्व के सम्मुख जो प्रश्न उपस्थित किये हैं उनमें एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि क्या भारतीय वैचारिकी वर्तमान पूंजीवादी उदारवाद का एक विकल्प बनकर उभर सकती है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में मुख्य रूप से प्राचीन भारतीय चिन्तन के उन तत्वों को रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है, जिनकी प्रासंगिकता आज भी विद्यमान है। राज्य के तिरोहित होने की भविष्यवाणी करने वालों से लेकर राज्य के विनिवेश का आग्रह करने वालों तक यह स्वीकार्यता विद्यमान है कि समाज के सभी वर्गों के भरण-पोषण और कल्याण की आश्वस्ति राज्य नामक उपकरण द्वारा ही सम्भव है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों, जिनको कालान्तर में सम्पोष्य (सतत) विकास लक्ष्य के रूप में जाना गया, की संरचना करते समय लोककल्याण के महत्वपूर्ण प्रश्नों के विचार के केन्द्र में रखा गया है। अत: यह स्पष्ट है कि आज भी मनुष्य का विकास और सर्वांगीण विकास मात्र राज्य के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। ऐसी स्थिति में यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यदि शासक ज्ञानशून्य है, संवेदनहीन है, अदूरदर्शी है, कठोर हृदय है, सहानुभूतिहीन है, निष्ठुर है, डरपोक है, कायर है, पराक्रम से रहित है अथवा इसी प्रकार के दुर्गुणों और दोषों से युक्त है तो वह न केवल प्रजा कल्याण में बाधक है अपितु राजव्यवस्था की विधिसम्मतता को भी चुनौती देता है। यदि आधुनिक समय में भी किसी शासक में क्रूरता, संकुचित दृष्टि, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, आपराधिक प्रवृत्ति, आदि दुर्गुण हैं तो वह लोकतन्त्र के भविष्य के लिए अशुभ है। वर्तमान समय में स्वातन्त्र्योत्तर भारत में जनप्रतिनिधित्व अधिनियम में अनेक बार संसद और राज्यों की

विधायिकाओं में प्रतिनिधियों के लिए योग्यताओं का पुन:निर्धारण किया गया है और जनप्रतिनिधियों के प्रत्यक्ष दोषों के निवारण का प्रयास किया गया है। किसी भी प्राकृतिक आपदा के समय अथवा दुर्घटना की स्थिति में हमारी पहली अपेक्षा राज्य से ही होती है। राज्य को अपनी आय का अंश किसी भी प्रकार के कर के रूप में देते हुए हमारी राज्य से अपेक्षाएँ उस अनुपात में अनेक गुना होती हैं। आज भी हम अपने जनप्रतिनिधियों का चयन करते समय निर्वाचन प्रक्रिया में सामाजिक, आर्थिक, क्षेत्रीय, सांस्कृतिक तथा अन्य तत्वों के साथ-साथ आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराने की उसकी क्षमता का आकलन अवश्य करते हैं। सम्पोष्य विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने की उत्सुकता में ग्रामीण क्षेत्रों में जलाशयों के पुनर्निर्माण और संरक्षण की योजना, पर्यावरण के प्रति जागरूकता का भाव, दिव्यांगों के लिए विशिष्ट प्रावधान, वरिष्ठ नागरिकों के लिए अतिरिक्त व्यवस्थाएँ, बालिकाओं के लिए नि:शुल्क शिक्षा, गर्भवती माताओं के नि:शुल्क स्वास्थ्य परामर्श एवं आर्थिक सहायता, वंचित वर्गों के लिए विशेष प्रावधान, आदि सभी आधुनिक योजनाएँ मूल रूप में प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राजाओं के महत्वपूर्ण दायित्वों के रूप में वर्णित की गई हैं। इसलिये प्राय: यह देखने में आता है कि प्रतिवर्ष आधुनिक भारत के वित्तमन्त्री संसद में वार्षिक आय-व्यय अनुमान (बजट) प्रस्तुत करते समय एक-दो वाक्यों में प्राचीन भारतीय कराधान की व्यवस्था का उल्लेख करते हैं, परन्तु विडम्बना यह है कि यह उल्लेख महाभारत, मनु अथवा कौटिल्य के किसी एक श्लोक मात्र से पूर्ण हो जाता है। वस्तुत: यह भी एक रोचक तथ्य है कि कराधान, करारोपण और कर-संग्रहण के सूक्ष्मतम तत्वों का सुगठित, सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध निरूपण प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में विद्यमान है और उसके अनेकानेक तत्व न केवल प्रासंगिक हैं अपितु आधुनिकीकृत रूप में राजनीतिक व्यवस्थाओं के नियम-निर्देशों में विद्यमान भी हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत की लोककल्याण की विचार परम्परा समकालीन राजव्यवस्थाओं के संचालन में पूर्णत: प्रासंगिक है। आवश्यकता इस बात की है कि समाज विज्ञान के शिक्षकों एवं शोधार्थियों द्वारा प्राचीन भारतीय भाषाओं के विद्वानों के साथ सहयोग और समन्वय आधारित शोध प्रकल्प प्रारम्भ किये जाएँ। प्राचीन भारतीय चिन्तन के विविध आयामों में समग्र अनुशीलन के लिए यह भी अनिवार्य है कि विभिन्न विषयों में अन्त:-अनुशासनात्मक लघु शोध कार्य बड़ी संख्या में प्रारम्भ किये जाएँ। इसके अतिरिक्त यह भी उचित होगा कि आर्थिक प्रबन्धन, न्याय प्रशासन, दण्ड व्यवस्था, नगरीय शासन, शिक्षा, साहित्य, समाज, राजनीति, लोक-प्रशासन, आदि क्षेत्रों में विभिन्न विचारकों के चिन्तन को एक स्थान पर प्रस्तुत करते हुए उनमें से समसामयिक उपादेयता के बिन्दुओं को चिह्नांकित किया जाए। इससे प्राचीन भारतीय चिन्तन के सम्बन्ध में विद्यमान अनभिज्ञता और अज्ञान का अन्धकार भी कम होगा तथा इसमें उत्पन्न भ्रान्तियों का निवारण भी हो सकेगा। प्राचीन भारत अपने विशद्, विपुल, व्यापक, वृहद् और विशिष्ट ज्ञान भण्डार से चमत्कृत करता है, विस्मित करता है, आनन्दित करता है, प्रफुल्लित करता है, मुदित करता है और सन्तुष्ट करता है। इस

असीम ज्ञान राशि में से आधुनिक काल के लिए उपयोगी रत्नों की खोज करना हमारा सामूहिक कर्त्तव्य है।

सन्दर्भ

1. सभ्यं सभा मे पाहि ये च सभ्या: सभासद - अथर्ववेद 19/55/6
2. न राज्यं न च राजासीत् न दण्डो न च दाण्डिक:। धर्मेणैव प्रजा: सर्वा: रक्षन्ति स्म परस्परम्।। - महाभारत
3. महाकवि भवभूति के प्रसिद्ध ग्रन्थ उत्तररामचरितम् में राम घोषणा करते हैं - स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि। आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा। - भवभूति, उत्तर रामचरितम्, प्रथम अंक, श्लोक 12
4. सभ्यग्दण्डधरो नित्यं राजा धर्ममवाप्नुयात्। नृपस्य सततं दण्ड: सम्यग् धर्म: प्रशस्यते।। - महाभारत शान्तिपर्व 69/30
5. यतो यत: समीहसे ततो नो अभयं कुरु। शं न: कुरु प्रजाभ्यो, अभयं न: पशुभ्य:। - ऋग्वेद
6. सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:ख भाग् भवेत्।। - उपनिषद्।
7. जनं बिभ्रती बहुधा विवचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।। - अथर्ववेद, 12.145
8. सह ना ववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवाव हे। - ऋग्वेद
9. माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:। - अथर्ववेद
10. आ त्वाहार्षमन्त रेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलि:। विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्। - ऋग्वेद, 10/173/1
11. लोका: समस्ता: सुखिनो भवन्तु। - उपनिषद्
12. उपप्लव वर्षाभा मण्डूकी तद् वादुरि। - अथर्ववेद
13. योगक्षेम: न: कल्पताम्। - यजुर्वेद, 22.22
14. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृध: कस्य स्विद्धनम्। - ईशावास्योपनिषद्, प्रथम मन्त्र
15. चतुर्वर्णाश्रमोलोको राजा दण्डेन पालित:। स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु।। - कौटिल्य, अर्थशास्त्र, 1/4/19
16. पुत्रा: इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवा:। निर्भया: विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तम:। - महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 57, श्लोक 33
17. यथा पुत्रास्तथा पौत्रा दृष्टव्यास्ते न संशय:। भक्तिश्चैधां न कर्त्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते।।
18. लोकरञ्जन मात्रेव राज्ञां धर्म: सनातन:। सत्यस्यरक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम्।। - महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 57, श्लोक 2
19. नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानान्तदण्ड:। प्रशमयसि विवाद कल्पसे रक्षणाय। - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 5, श्लोक 8
20. प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि। स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतव:।। - रघुवंशम्, सर्ग 1, श्लोक 24
21. अतनुषु विभवेषु ज्ञातय: सन्तु नाम त्वयि तु परिसमाप्त बन्धुकृत्यं प्रजानाम्। - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 5, श्लोक 8

22. प्रजा प्रजानाथ पितेव पासि। - रघुवंशम्, सर्ग 2, श्लोक 48
23. अविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकार:। - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 5
24. भानु: सकृद्युक्ततुरग एवं रात्रिन्दिवं गन्धवह: प्रयाति। शेष: सदैवाहित भूमिभार: षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एष:।। - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 5, श्लोक 4
25. यश्चामात्यान् मानयित्वा यथार्थं मन्त्रे च युद्धे च नृत्पो नियुञ्जयात्। विवर्धते तस्य राष्ट्रं नृपस्य भुङ्क्ते मही चाप्यऽखिलं चिराय।। - महाभारत शान्तिपर्व 91/29
26. आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा। - भवभूति, उत्तररामचरितम्
27. क्षतात्किल त्रायत् इत्युदग्र:, क्षत्रस्य शब्द: भुवनेषु रूढ:।। - रघुवंशम्, सर्ग 2, श्लोक 53
28. किमप्यहिंस्रस्तव चेन्मतोऽहं यश: शरीरे भव मे दयालु:। - रघुवंशम्
29. येन येन वियुज्यन्ते प्रजा: स्निग्धेन बन्धुना। स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्।। - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 6, श्लोक 23
30. कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम्। योगक्षेम च वृत्ति चनित्यमेव प्रकल्पयेत्।। - महाभारत, शान्ति पर्व अध्याय 86, श्लोक 24
31. स्वसुखनिरभिलाष: खिद्यसे लोकहेतो: प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवं विधैव। - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 5, श्लोक 7
32. शूराश्चार्याश्च सत्कार्या विद्वांसश्च युधिष्ठिर। गोमिनो धनिनश्चैव परिपाल्या: विशेषत:।। - महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय 24, श्लोक 17
33. श्रोतुं चैव न्यसेद् राजा प्राज्ञान् सर्वार्थदर्शिन:। व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम्।।
34. प्रजाहिते हितं राज्ञ:। - कौटिल्य, अर्थशास्त्र
35. यन्मां भवन्ती वक्ष्यन्ति कार्यामर्थसमन्वितम्। तदहं व: करिष्यामि नात्रकार्या विचारणा।। अद्यारम्भ न मे राज्यं राजाऽयं रक्षतु प्रजा:। इति सर्वं प्रजाविष्णुं साक्षिणं श्रावयेन्मुहु:।। - महाभारत, शान्तिपर्व, LIX, 102, चण्डेश्वर, XVI
36. युद्धप्रियाश्च शरणागत वत्सलाश्च दीनेषु पक्षपतिता: कृतसाहसाश्च। एवं विधप्रतिभयाकृतिचेष्टितानां दण्ड: यथार्थमिह धारयितुं समर्था:।। - भास, मध्यमव्यायोग, श्लोक 10
37. प्राज्ञस्त्यागगुणोपेत: पररन्ध्रेषु तत्पर:। सदृश: सर्ववर्णानां नयापनयवित् तथा।। क्षिप्रकारी जितक्रोधो सुप्रसादो महामना:। अरोषप्रकृतियुक्ति: क्रियावानविकत्थन:।। आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च। यस्यराज्ञ: प्रदृश्यन्ति स राजा राजसत्तम:।। - महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 57, श्लोक 30-32
38. इयं ते राट्। यन्तासि यवनो ध्रुवोऽसि धरुण:।
39. एते भृत्या: स्वानि कर्माणिहित्वा स्नेहाद् रामे जातवाष्पाकुलाक्षा:। चिन्तादीना: शोकसन्दग्धदेहा: विक्रोशतं पार्थिवं गर्हयन्ति।। - भास, प्रतिभानाटकम्, अंक 2, श्लोक 13
40. जानतापि च वैदेह्य: शुचितां धूमकेतन। प्रत्यार्थे हि लोकानामेवमेव भयाकृतम्।। - भास, अभिषेकनाटकम्, षष्ठोड्क:, श्लोक 29
41. दुष्टस्य दण्ड: स्वजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य हि वर्धनं च। अपक्षपात: निजराष्ट्र रक्षा पञ्चैव धर्मा: कथिता नृपाणाम्।। - अत्रि संहिता

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 2, दिसम्बर 2022, पृ. 15-28)

राजनीतिक इतिहास लेखन में सन् 1942 का बलिया

कुँवर प्रांजल सिंह*

देश आजादी का अमृत महोत्सव मानाया जा रहा है। यह वक्त जितना गर्व करने के लिए है, उतना ही स्थानीय कारनामों के पुनः विश्लेषण का भी है। गौरतलब है कि इस महोत्सव में आजादी शब्द का समावेश पहले से है। इस आजादी के मायने को मुख्यधारा वाली प्रवृत्तियाँ जिसमें बड़े नाम और उनके तारीखनुमा कारनामे शामिल हैं, उनसे नजर हटा कर आजादी के मायने को स्थानीय स्मृतियों और लोक-संस्कृतियों में रख कर देखने की आवश्यकता है, जो राष्ट्रीय आन्दोलन को राष्ट्रीय कद प्रदान करते हैं। इस प्रकार के प्रयास को विश्लेषित करने का प्रयास इस लेख में किया गया है।

1942 की प्रसिद्ध स्मृति में भारत छोड़ो एक समान स्वर में ऐसे आन्दोलन के रूप में याद किया जाता है जो औपनिवेशिक राज्य के खिलाफ और आजाद हिन्दुस्तान से थोड़ी दूरी पर था। यह ऐतिहासिक तौर पर दर्ज किये गये तथ्य के आधार पर भी स्पष्ट है। लेकिन सवाल यह है कि 1942 के बलिया का राष्ट्रवादी विमर्श में क्या स्थान है? इस सवाल की पड़ताल पर इतिहासकारों और समाज विज्ञान के विभिन्न अनुशासनो में साफ तौर पर दिखाया जाता है कि सर्वप्रथम बलिया में स्वतन्त्र सरकार बनी थी, जिससे बलिया की बागी वाली छवि बाहर आ

*सहायक प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
E-mail: pranjal695@gmail.com

जाती है। बलिया में स्वतन्त्र सरकार की घोषणा मानो बलिया के संघर्ष की पूरी कहानी बता रहा हो, लेकिन इस पूरे प्रकरण की शुरूआत कैसे हुई और उसका अन्त कहाँ हुआ। स्वतन्त्र सरकार की घोषणा पहले कहाँ हुई, गाँव उसका मुख्य घटना स्थल था या शहर। जिस तोड़फोड़ को बलिया के बागी तेवर में यदा-कदा दर्ज किया जाता है, उसकी पहली हिंसा कहाँ हुई। मसलन चौराहे पर पहली हिंसा हुई या पहले थाना फूँका गया? इन सवालों पर लगभग इतिहासकार की कलम या तो तेज हो जाती है या फिर समाज विज्ञान कांग्रेस पर बहस करना ज्यादा उचित समझता है। इसलिये यह माना जा सकता है कि बलिया का संघर्ष हमारे राजनीतिक इतिहास में या तो अधर में है या लटका हुआ है, जिस पर मेरा प्रयास एक वाक्य लिखने का ही नहीं बल्कि एक फैला हुआ वाक्यांश कहने का है, जिससे कि मैं राजनीति के सैद्धान्तिक दुनिया में यह तर्क कर पेश कर सकूँ की तथ्यों को इकट्ठा करके विचार और सिद्धान्त तो बनाये जा सकते हैं, लेकिन इससे सामान्य जन को नहीं जोड़ा जा सकता। यह हमें दो प्रस्थान बिन्दुओं की ओर ले जाता है। एक, सिद्धान्त की दुनिया में जहाँ जिस राज्य का शिलालेख हुआ, वह राष्ट्रवादी आख्यानों से बड़े-बड़े ऐतिहासिक कारनामों से स्थापित कर दिया। दूसरा, जहाँ किस्सागोई को हमेशा से अशुद्ध कहकर सिद्धान्त और राजनीति की चारों दिशाओं से दूर रखा जाता है। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन को एक घटना मानकर और संयुक्त प्रान्त के जिला बलिया में स्थान दे कर कुछ कहने का प्रयास किया जाता है तो एक बात अक्सर अटकती हुई दिखती है कि इतने बड़े राष्ट्रीय आन्दोलन को एक जिले के बीच रख कर वहाँ के नायकों के बातों में कान देना, राष्ट्रीय बखानों के पार जाना और वहाँ से कुछ सुन कर आना, लिखना, कहना अटपटा लग सकता है। इसका क्या महत्व है या इसकी क्या प्रासंगिकता है, जैसे तमाम सवालों से मुँह भी बन्द किया जा सकता है। ऐसे में तथ्यों, पुरालेखों से बात तो कहनी होगी, लेकिन स्मृति के जरिये किस्सागोई की भी सहायता लेनी होगी।

चूंकि बागियों के जो सरगना हैं, उनका कोई अधिकृत बयान नहीं मिलता। उनके बयान तभी मिलते हैं जब सरकार उनसे कुछ उगलवाती है। रही बात अधिकृत स्रोतों की तो इसके लिए यह आवश्यक है कि हम इसे नये ढंग से पढ़ें और उनके बीच राज्य किस प्रकार मौजूद है, इसका परीक्षण भी करें। मसलन, 1942 के बलिया आन्दोलन में जो हिंसा दर्ज की गयी है, वो राज्य के विरुद्ध उठाये गये जरूरी कीमत के तौर पर दिखाई जाती है। यहाँ हिंसा इतिहास की अग्रगति का एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम बन जाती है। जिसके पीछे समझने योग्य, विवेकसंगत कारणों के लेप लगाये जाते हैं। जिससे हिंसा, राज्य की नीतियों को लागू होने से उसके मानक अपनाने, शोषण बढ़ाने और विस्थापन होने के कारण आधुनिकता और पूर्व आधुनिक संस्कृति के टकराव के रूप में नजर आती है। संक्रमण की ये बृहत्तर 'ढाँचागत' विशेषता जनविद्रोह, दंगो आदि की व्याख्या करती है। लेकिन जन पर की गयी हिंसा और जनता द्वारा मचाये गये उत्पात को ऐतिहासिक विवरण के तौर पर या कर्ताओं के तौर पर, उनकी इच्छाओं और विवेक का कोई खास महत्व नहीं होता। यह भी लगभग नगण्य होता है कि उनकी भागीदारी को किस प्रकार और कैसे समझा और देखा जाए।[1] रंजित गुहा इस

नगण्यता पर कहते हैं कि हमारा इतिहास लेखन मात्र अस्तित्वमान् व्यक्ति या एक वर्ग के सदस्य रूप में किसान विद्रोह की विवेचना करके ही सन्तुष्ट हो जाता है, न कि एक ऐसी इकाई के रूप में जिसकी इच्छा और बुद्धि विद्रोह नामक व्यवहार का निर्माण करती है।[2]

बहरहाल, बलिया पर ही अगर एक ऐतिहासिक नजर टिकाएँ तो पहला सवाल दिमाग में आता है कि वर्तमान में यह शहर अपनी स्मृति को किस तरह समेटता है? बैरिया कोतवाली (बलिया) के पास एक चौक बना है। जिस चौक पर लिखा है - 'अगस्त क्रान्ति 1942 की स्मृति में' और साथ ही शहीदों के नाम की एक सूची पत्थर पर उकेरी गयी है। जिसके ऊपरी छोर पर अशोक स्तम्भ बना हुआ है। इस स्तम्भ के नीचे एक पत्थर लगा है जिसमें एक पूरा पैराग्राफ इस प्रकार लिखा है - "कांग्रेस के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के सफल संचालन में स्वतन्त्र बलिया प्रजातन्त्र की स्थापना के निमित्त अमरगति पाने वाले द्वाबा के शहीदों की पुण्य स्मृति 28 अगस्त 1953 को द्वाबा की जनता द्वारा यह स्मारक खड़ा किया गया है"।[3]

इस पूरे शहीद स्तम्भ में बलिया के संघर्ष की स्मृति के नाम पर सिर्फ शहीदों का नाम भर ही हैं। इस बात से यह भी नहीं पता चलता कि वाक्यांश का सम्बन्ध किससे है? जिस जनता का जिक्र इस स्मृति स्तम्भ में है वो कौन लोग हैं? वे सत्याग्रही हैं या गैर सत्याग्रही या फिर तमाशबीन? इन प्रश्नों का ठीक-ठीक न तो अन्दाजा इतिहास की किताबों में मिलता है न ही राष्ट्रीय नेताओं के नाम पर बनाये गये मोटे-मोटे वाङ्मय में।

बलिया पर लिखा गया हर वाक्य या तो सरकारी नजर के हिसाब से कहा गया या फिर सीना चौड़ा करते हुए 'हम हई बागी बलिया के' ताल ठोक कर आगे बढ़ जाते हैं। इससे न तो बलिया की घटना की भीतरी परतें खुलती हैं न ही कोई ऐसा विराम मिलता है, जो समाज विज्ञान की दुनिया को रोक कर बतिया सके। और यह बता सके कि यह क्षेत्र जब अपने क्रान्तिकारी तेवर में था, उसमें यहाँ के कृषकों की बड़ी भूमिका थी। 1942 से पहले ही बलिया में हो रही विद्रोह की घटना राजनीतिक गर्मी पैदा कर चुकी थी। अहिंसा की गाड़ी बम्बई से चल कर बनारस, लखनऊ वाया आजमगढ़ और बलिया तक पहुँचते-पहुँचते अपने मूल अर्थ को ही त्याग चुकी थी। इस प्रस्तावना में मेरी चेष्टा 'बलिया में क्रान्ति और दमन' किताब के हवाले से इस पूरे हाल को बताने का भी है। 1942 के जरिये बलिया में राष्ट्रीय आन्दोलन, गाँधीवादी सिद्धान्तों का फरमान और कृषकों के ठेठ देहाती सत्याग्रह को समझने से है। इन विमर्शों पर बहस के लिए इस प्रस्तावना को चार भागों में विभक्त किया गया है - प्रथम भाग में, आन्दोलन की मर्यादा और स्मृतियों में उसके प्रयोग का विश्लेषण रखा गया है। दूसरे भाग में, गाँधीवादी लामबन्दी और औपनिवेशिक राज्य धुरी से कृषक किस प्रकार खिसक जाता है, इसकी पड़ताल की गयी है। गौरतलब है कि भारत छोड़ो आन्दोलन का महत्वपूर्ण पक्ष सत्याग्रही बने रहना ही था। इसका आधार और इसके नियम किस प्रकार बनाये गये थे और औपनिवेशिक राज्य में इन सत्याग्रहियों में किस प्रकार विभेद किया गया था, इस पक्ष को सामने रखा गया है। कांग्रेस को स्वतन्त्रता का पर्याय बनाना और बलिया को बाहर राष्ट्र के रूप में अपनी दावेदारी स्थापित करने की प्रक्रिया का विश्लेषण चौथे भाग में किया गया है।

स्मृतियों का द्वन्द्व और आन्दोलन की मर्यादा

बहुत से लोगों ने इस बात पर गौर किया होगा कि आधुनिक इतिहास की किताबें बलिया में समान्तर सरकार बनने की एक लाइन जरूर लिखती हैं, जिससे बलिया की उपस्थिति तो बनती है लेकिन राष्ट्रीय इतिहास में पिछलग्गू की भाँति घसीटे जाते हैं।[4] मुख्य धारा की चर्चा में घटना के सलूक, शक्ल-सूरत को समझने के बजाय इतिहास आत्मकथाओं का ब्यौरा बन कर रह जाता है। जैसा कि के.एल. इंग्लिश ने कहा कि अधिकांश इतिहास मुख्य रूप से एक छुपी हुई आत्मकथा है, जिसमें नेता की अनुपस्थिति उसकी उपस्थिति को ऐसे प्रमाण के रूप में अभिव्यक्त करते हैं जैसे कारनामों का असली बिगुल उसी ने फूँका था। आन्दोलन के शुरू होने से पहले की काया बनायी गयी। उसका प्रचार राष्ट्रीय आख्यानों का ही प्रसार था। इस आन्दोलन में जिस जनभागीदारी का हवाला दिया जा रहा था वह गाँधी के आदर्शों के बाद ही रखी गयी थी।

इस सन्दर्भ में राजेन्द्र बाबू का यह वाक्य पढ़ने को मिलता है, जो '1942 की क्रान्ति के पूर्व' के शीर्षक से लिखा गया था - निश्चय हुआ कि अगर सचमुच लोग गिरफ्तार हो गये और कोई कार्यक्रम न दे सके तो उस हालत में हर एक कांग्रेसी अपने आप को नेता समझे। अहिंसा के सिद्धान्त के अन्दर रह कर जो कुछ सत्याग्रह के रूप में कर सकता हो करे। इस संग्राम को अन्तिम संग्राम समझ कर कोई हिंसक कदम न उठाएँ, अहिंसा को किसी तरह न छोड़ें। हमने जो कार्यक्रम बनाया, उसमें भी इस बात पर जोर दिया गया है कि अहिंसा के मार्ग को नहीं छोड़ना चाहिए। सत्याग्रह के लिए कार्यक्रम बनाये गये, इस कार्यक्रम में इस बात पर जोर दिया गया कि अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धान्तों में कोई भिन्नता नहीं है पर अधिक उग्र जरूर थे।[5]

राजेन्द्र बाबू द्वारा प्रयोग किया गया शब्द 'लोग' का तात्पर्य कांग्रेस से है। भारत छोड़ो आन्दोलन को सत्याग्रही कार्यक्रम के तौर पर परिभाषित करने में राजेन्द्र बाबू की मुख्य चिन्ता गाँधीवादी आदर्शों को अन्त तक बनाये रखने से ज्यादा है, जिससे आन्दोलन को अहिंसा का प्रतीक तो मिलता है पर जो नेताओं की भूमिका को ही गति प्रदान करता है। ऐसे में यह दावा है कि यह आन्दोलन 'आम जनता' का था, इसकी परतें खोलने की जगह उसे नेतागिरी के अन्दाज में दबा दिया जाता है। इन दबी हुई प्रक्रियाओं का मूल सवाल यह है कि गाँधी के सन्देश तथा उसके मूल सवाल स्थानीय और कस्बों तक पहुँचते कैसे थे? इन्हीं प्रश्नों के साथ भारत छोड़ो आन्दोलन का सैद्धान्तिक कलेवर भी परिवर्तित होता हुआ नजर आया। 'करो या मरो' के नारे से पहले क्रान्तिकारियों की शहादत और उसके आदर्श पर बने संगठन जनता में अपनी पहुँच बना चुके थे। पूर्वांचल में 'उत्थान संघ' नामक पहला क्रान्तिकारी संगठन स्थापित हुआ। इस संगठन के दफ्तर का पता बलिया ही था। जिसके मुख्य संचालक गोकुल भाई और चन्द्रभान प्रताप सिंह 'स्वामी भगवान' थे। गोकुल भाई गाँधी आश्रम बलिया में कार्यरत थे। जबकि स्वामी भगवान गाजीपुर में निवास करते थे। गाजीपुर जिले के गडुआ मकसूदपुर निवासी बेनीमाधव राय इन लोगों के लिए सम्पर्क सूत्र का कार्य करते थे। यह एक अन्तर्प्रान्तीय संगठन था। इसका एक महत्वपूर्ण वाकया बलिया राजनीतिक डकैती से हुए परिवर्तन के रूप में देखा जा सकता है। बलिया जिले की राजनीति में महानन्द मिश्र का उभरना और हमीरपुर जिले की पहाड़ियों पर

गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण भी हिंसक और अहिंसक के बीच की दीवारों को बनाना प्रारम्भ कर चुका था। उत्थान संघ का विरोध स्थानीय स्तर पर भी था। अपने आप को गाँधीवादी नेता समझने वाले स्वामी भगवान क्रान्तिकारी गतिविधियों को देखते हुए इस संगठन से अलग होकर स्वामी सहजानन्द सरस्वती के साथ किसान आन्दोलन में सक्रिय हो गये। देखते हैं कि कैसे बलिया षडयन्त्र केस (1935) और संगठन के प्रमुख लोगों पर, जैसे - महानन्द मिश्र के अतिरिक्त रामलक्षण तिवारी, तारकेश्वर पाण्डेय (बलिया) बेनीमाधव राय, पब्बर राम, आदि (सभी गाजीपुर) पर मुकदमा चला कर इस संगठन को कमजोर करने की साजिश की गयी, लेकिन संगठन की विचारधारा बलिया, आजमगढ़ में फैल चुकी थी।[6] उत्थान संघ के अस्तित्वविहीन हो जाने के बाद पूर्वांचल के नवयुवक किसी अन्य संगठन के माध्यम से अपने कार्यों को अंजाम देना चाहते थे, लेकिन यह स्थिति बेहद संजीदा थी। इसी बीच आजमगढ़ के अमिला गाँव निवासी झारखंडे राय, जो बचपन में अपने ही गाँव के निवासी गाँधीवादी नेता अलगु राय शास्त्री द्वारा जलियांवाला बाग हत्याकांड के शहीदों के लहू से सिंचित मिट्टी के दर्शन कर खून का बदला खून से लेने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। अलगु राय की यह प्रतिज्ञा उन्हें गाँधी के आदर्शों से बाहर निकल कर क्रान्तिकारी भावना से जोड़ चुकी थी। वह अपने कुछ साथियों सहित इलाहाबाद की बाघम्बरी गद्दी पर एक नये क्रान्तिकारी संगठन के गठन और उसके नाम पर विचार कर रहे थे। अन्ततः 1937 के मई महीने में सीतापुर में आयोजित प्रान्तीय युवक संघ के अधिवेशन पर आयोजित सम्मेलन में झारखंडे राय और उनके साथियों ने एक नये क्रान्तिकारी संगठन की घोषणा कर दी। इस संगठन का नाम उन्होंने हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिक आर्मी (एच.एस. आर.ए.) ही रखा और यह भी घोषणा की कि वे लोग एच.एस.आर.ए. को पुनर्जीवित कर रहे हैं। इस संगठन के अध्यक्ष मैसूर प्रान्त के धारवाड़ जिले के निवासी वीरूपाक्ष आंगदी, सर्वोच्च सेनापति फैजाबाद जिले के जगदीशदत्त शुक्ल तथा मुख्य संगठनकर्ता/महाचिव झारखंडे राय बनाये गये। कालान्तर में इलाहाबाद में इस संगठन का संविधान एवं कार्यकारिणी का गठन किया गया। इसके संविधान में यह स्पष्ट तौर पर लिखा गया था कि जौनपुर जिले में कार्यरत यूथ लीग के किसी भी क्रान्तिकारी को तोड़ा न जाये बल्कि उनके साथ सहयोग किया जाये और उत्थान संघ और हिन्दुस्तान रिपब्लिकन संगठन के विघटन के पश्चात् इन संगठनों से जुड़े क्रान्तिकारियों को इस नये संगठन से जोड़ा जाये।[7] इस संगठन के संविधान में इस बात का उल्लेख किया गया था कि इसके प्रत्येक सदस्य को प्रत्यक्षतः कांग्रेस पार्टी एवं कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का सदस्य होना अनिवार्य है। लेकिन परोक्ष रूप से वह इस संगठन का सदस्य रहेगा और उसे संगठन के निर्देशों का पालन करना होगा। भारत छोड़ो आन्दोलन अपने स्थानीय संगठन के आधार पर आन्दोलन की दिशा और दशा तय कर रहा था।

दूसरी तरफ अहिंसा की प्रेरणा कृषकों के जीवन के बीच विद्यमान संघर्ष को समेकित नहीं कर पा रही थी। इनके संघर्षों की काया न तो पूर्ण रूप से अहिंसक रह गयी और न हीं उन्हें हिंसक करार दिया जा सकता था। जैसा की अमरकान्त अपने उपन्यास में ऐसे ही एक दृश्य को दर्शाते हैं, जहाँ गाँव में यह बात फैलने लगती है कि गाँधी की अहिंसा से कुछ

नहीं होगा। इसे धोखे के रूप में परिभाषित करते हैं - "अहिंसा से कुछ होने वाला नहीं है। यह धोखा है। हम इसमें विश्वास नहीं करते। हम तो अलग से तैयारी कर रहे हैं। आने वाली जंग-ए-आजादी में अनेक चटगाँव में मोर्चा जमेगा। हजारों फिरंगियों को जहन्नुम भेजा जायेगा। हमारी तैयारी देखनी है तो चलो आजमगढ़! वहाँ देखोगे कि कैसे झारखंडे राय, मुक्तिनाथ वगैरह त्याग, तपस्या और कठोर परिश्रम करते हैं"।[8] इस प्रसंग से यह दिखाने का प्रयास है कि गाँधी के आदर्श किस तरह स्थानीय स्तर पर पहुँचने से पहले क्रान्तिकारी शब्दों में पिरोये हुए पाये जाते हैं। जैसा कि नरेन्द्र शुक्ल इस विचारधारात्मक संगम पर बताते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपने आप में ही एक उद्देश्य था जहाँ हिंसक और अहिंसक गतिविधियाँ आपस में संलिप्त थीं क्योंकि इन दोनों गतिविधियों का माध्यम प्रेस ही था।[9] इन के बीच अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाली राजनीति का भी संयोग देखने को मिलता है। जहाँ बलिया की कचहरी में एक मुहावरा यूँ शामिल है कि 'वाह पहलवान, खदेड़ आओ जापानियों को टोकियो तक'।[10] यहाँ यह स्पष्ट रूप से दिखने लगा था कि कांग्रेस की उपस्थिति और गाँधीवादी आदर्श में हिंसा और क्रान्ति की भाषा गुँथी हुई थी। कई ऐसे भी अवसर थे जहाँ गाँधी की अनुपस्थिति होते हुए उनका स्थान स्थानीय देवी-देवताओं ने ले लिया था। यहाँ आस्था धर्म से ज्यादा उनकी राजनीतिक चेतना और लामबन्दी के नतीजे के रूप में सामने दिखने लगती है।

गाँधीवादी लामबन्दी और औपनिवेशिक राज्य

जैसा देखा गया कि 1942 के आन्दोलन में लामबन्दी का गाँधीवादी तरीका अहिंसा और अन्त तक सत्याग्रही बने रहने का ही रहा है। जहाँ 1942 को 'परम ध्येय' के रूप में परिभाषित करते हुए लिखा गया कि परम ध्येय में सारी शक्ति लगा देना चाहिए।[11] यह परम ध्येय की अवधारणा राष्ट्रवाद के साथ-साथ राष्ट्रवादी होने से भी जुड़ी हुई थी जो आसानी से उन भारतीयों की पहचान कर लेती थी जिनका सम्बन्ध भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से था। गौरतलब होगा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस राष्ट्र बन कर उभर रही थी। इसके लिए 10 अप्रैल 1942 का गाँधी के एक लेख जो हरिजन में प्रकाशित हुआ था, उसका एक अंश इस कांग्रेस के राष्ट्र बनने की प्रक्रिया को और पुख्ता कर देता है। इसमें लिखा है - राष्ट्रवादी भारत के उत्साह को बढ़ाने के लिए यह है कि जिस तरह सूरज के ना होने पर उसकी दीप्ति नहीं की जा सकती उसी प्रकार स्वतन्त्रता के भी न होने पर उसकी दीप्ति का अनुभव नहीं किया जा सकता। उनमें से बहुतेरे लोग ऐसे हैं जो शान्ति और सन्तुलन से भारत की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की कल्पना नहीं कर सकते। स्वतन्त्रता के तेज से पहले अनुभव में एक धक्का लग सकता है। इस धक्के की आवश्यकता है। इस धक्के के लगने से भारत पर क्या असर होगा यह कोई नहीं जानता।[12] यहाँ जिस दीप्ति की चर्चा गाँधी अपने लेख में कर रहे थे, उसका लक्ष्य कांग्रेस के हाथों ही सम्भव बनाये जाने का आधार भी तैयार कर रहा था जिसके लिए कांग्रेस लामबन्दी के दो स्तरीय तरीकों का निर्माण करती है। एक, कांग्रेस गाँधी के सिद्धान्तों को परम ध्येय बना कर जिला स्तर पर प्रचारित कर रही थी। दूसरा, गाँव के सम्भ्रान्त लोगों से साँठ-गाँठ बनाते हुए वहाँ

के स्थानीय नेताओं को कांग्रेस का या कभी-कभी गाँधी महाराज के रूप में प्रोजेक्ट करने का कार्य करती थी। जैसा कि बलिया के 42 के संघर्ष पर लिखे गये अमरकान्त के उपन्यास में एक किरदार पूरे गाँव में गाँधी के रूप में ही स्थापित होता रहा है। जिसका पूरा प्रसंग यह है कि चाचा रामयश सिंह गाँव में गाँधी के नाम से पुकारे जाते हैं। वह बेहद नाटे थे। जो न ही चरखा कातते थे और न ही शुद्ध खादी पहनते थे। राजनीति से दूर रहते थे, इसलिये जेल जाने का कोई सवाल ही नहीं। लेकिन गाँव में सुलह-समझौता कराने और सामान्य लोगों से अलग अनोखी बुद्धिमानी की बात करने से उनका यह नाम पड़ा था।[13] ये धारणा केवल लोककल्पना की उपज नहीं थी। पुष्पदास का मत है कि इनमें से अनेक अफवाहें जान-बूझकर स्थानीय नेताओं द्वारा फैलाई गयीं, जिन्होंने आन्दोलन को अतिरिक्त गति प्रदान करने के लिए गाँधी के करिश्मा का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु कृषकों ने इन पर विश्वास इसलिये किया था कि गाँधी नाम उनसे जुड़ा था।[14] जिससे कृषकजन अपने राजनीतिक दायरे का निर्माण कर लिया करते थे। आजमगढ़ के छोटे से गाँव कनेरी में एक कहरुआ इस प्रकार था कि 'धूम पक चिक धूम पक चिक महातमा देहले ज्ञानवा अंहिसा बाद के लेह लय परनवा उनकर चाल रे...... महतमा जी कय जय'[15] यहाँ कृषक अहिंसा के उस द्वन्द्व से भी गुजर रहे थे जो स्थानीय नेतृत्व के कारण उत्पन्न हुआ था। क्योंकि कांग्रेस कृषकों को सिर्फ संख्या के बल का पर्याय मान कर अपनी स्थानीय राजनीति को राष्ट्रीय से मिलाने का जुगाड़ बना रही थी, जबकि कृषक आज्ञाकारिता और 'पाँव लागी सरकार' जैसे पायदान को तोड़ते हुए अपना एक अलग दायरा निर्मित करते रहे। अब उनकी भूख और राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच एक टकराव बनता गया। उभाव थाने और बीज गोदाम की घटना इसी का पर्याय था। घटना 23 अगस्त की है जब बिल्थरा रोड के बाजार के पास स्थित बीज गोदाम को लूटने की योजना बनायी गयी। हालांकि बीज गोदाम लूटने से पहले थाना फूँकने का प्रस्ताव था। लेकिन गाँव में जो प्रचार किया गया उसका एक ही भाव उठाया गया कि ज्यादा से ज्यादा लोग उभाव थाने पर पहुँचे और बीच में गोदाम को लूट लें।[16] अब स्थानीय स्मृतियों में यह घटना कुछ यूँ दर्ज है कि "बाबू हमनी के जानकारी त न बा की औ बेला में के आयल रहल हमरे दादा तो गयल रहनय लेकिन कहने की आनाज मिलतह मनमाफिक... और तो इ न बताइ पाइब की गाँधी जी से कौनो मतलब रहल की न"।[17] यहाँ यह देखना दिलचस्प होगा कि स्वतन्त्रता आन्दोलन की राष्ट्रीय राजनीति में केवल कृषकों के बीच उनकी रोजमर्रा की जिन्दगी से जुड़ी भूख की स्मृति ही अन्त तक बनी रहती है। इसलिये हमें पुष्पदास की इस चेतावनी को भी ध्यान रखना चाहिए कि जनता पर गाँधी के व्यक्तिगत प्रभाव को बढ़ा-चढ़ा कर देखने से कई परतें बन्द हो जाती हैं। मसलन, जब गाँधी मौजूद होते हैं, नि:सन्देह उनकी बात ही महत्व रखती है और जब वो जा चुके होते हैं तो स्थानीय नेतागण उनकी प्रतिष्ठा की चादर ओढ़ कर उनकी बातों का आधिकारिक अर्थ समझने वाले बन जाते हैं।[18] संयुक्त प्रान्त में तथा खास तौर पर बलिया की घटनाओं को देख कर यही इशारा मिलता है कि गाँधीवादी लामबन्दी एक अधिकृत रूपान्तरण मानी जाती है। कृषकों को समझने में स्थानीय नेतागण या जिला कांग्रेस कमेटी के सदस्य कामयाब न हो सके। क्योंकि

जिस किसान सभा को कृषकों के राजनीतिक दायरे के रूप में देखा जा रहा था उसके भी विघटन की कहानी शुरू हो चुकी थी। 22 जुलाई 1942 के विहटा किसान सभा के अधिवेशन में विश्व युद्ध के प्रति किसान सभा के दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव एन.जी. रंगा द्वारा प्रस्तुत किया गया, जिसका समर्थन बंकिम मुखर्जी ने किया। इस प्रस्ताव में फासिज्म के विरुद्ध एकता कायम करने तथा राष्ट्रीय सरकार जिसमें कांग्रेस और लीग दोनों के सदस्य शामिल हों उन्हें बनाने की बात कही गयी थी। इस सम्मेलन के कुछ दिनों बाद अखिल भारतीय किसान सभा के सदस्य प्रमुख एन.जी. रंगा ने बिना किसी कारण के अपने पद से इस्तीफा दे दिया।[19] इस सभा में जो भी प्रस्ताव रखे गये थे उनका सम्बन्ध सीधे तौर पर कृषकों से न होकर कांग्रेस की स्थानीय राजनीति को राष्ट्रीय स्तर से मिलने के पक्ष में दिये गये थे। दूसरी ओर यदि पापुलर बयान को दोहराया जाये कि 1942 के शुरू होने से पहले सब बड़े नेता गिरफ्तार कर लिये गये थे। ऐसे में कांग्रेस और अन्य राजनीतिक दलों के बीच भी एक शक्ति और प्राधिकार को स्थापित करने को होड़ मची थी। यह कार्य सबसे पहले किसान सभा से ही शुरू हुआ। कांग्रेस और किसान सभा की नीतियों के अन्त:विरोधियों के कारण जब किसान सभा बिखरने के कगार पर पहुँच गयी, उस समय किसान सभा की संख्या को कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने हित में मोड़ने का कार्य किया। लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी ने किसान सभा को अपना मंच देने का आधार कभी नहीं बनाया और यह बात वह बार-बार दोहराती रही कि किसान सभा सभी दलों का संयुक्त मंच है। सरकारी रपट यह कहती है कि कम्युनिस्ट पार्टी किसान सभा पर कब्जा करना चाहती थी।[20] अन्त:विरोधों के इस प्रारूप ने कृषकों को जमीन से उठाकर उन्हें भीड़ तथा हित साधन के रूप में परिवर्तित किया। यहाँ स्टीफेन हेनिंघम का दावा सार्थक नजर आने लगता है कि 1942 के आन्दोलन में कृषकों की भूमिका की दो खूबियाँ थीं। हेनिघंम ने एक तरफ यह दिखाया कि सभी किसान आन्दोलन के नेता छोटे जमींकार और धनी किसान तत्वों से निकले थे जिस पर कांग्रेस की छाप थी। दूसरी ओर उन कृषकों का जिनका सीधा सम्बन्ध जाति के ढाँचे में निचले स्थान पर आता था इनका आन्दोलन अपने रोजमर्रा के जीवन में संघर्ष से स्वायत्तता की माँग से जुड़ा हुआ था। इनकी यह माँग धार्मिक चेतना और इंकलाब जिन्दाबाद के मिले-जुले प्रतिरूप का परिणाम था।[21] इससे औपनिवेशिक शासन की कानूनी शक्ल और भी मजबूत होने लगी थी, जिससे उत्तर औपनिवेशिक राज्य के नजरिये का भी निर्माण हुआ।

औपनिवेशिक शासन का कानूनी दाँवपेच तथा सत्याग्रही होने का प्रमाण

पुलिस के सामने बयान देते हुए बाबा मथुराप्रसाद जो बलिया के उभाव डाकखाने के पोस्ट मास्टर थे, उभाव के गोदाम और डाकघर में लगायी गयी आग के आरोपियों पर कहते हैं - बलवाइयों में कांग्रेसी और गैर-कांग्रेसी हर तरह के लोग थे। जो लोग सामने थे उनकी पहचान करते हुए उनके नाम इस प्रकार लिए - देवनाथ उपाध्याय, पारसनाथ मिश्र, हरचरन लाल - ये लोग शरीक-ए-जुर्म थे।[22] यहाँ औपनिवेशिक शासन और कांग्रेस के विभेद की तंग गलियाँ भी खुलने लगी थीं। एक तरफ जहाँ औपनिवेशिक राज्य ने 1942 के कैदियों का

वर्गीकरण करना प्रारम्भ कर दिया था, वहीं अन्तिम सत्याग्रही कौन, जैसे और सवाल भारत छोड़ो आन्दोलन; जन आन्दोलन है या नहीं उससे भी बड़ा सवाल बन कर उभरता था। जैसा कि उज्ज्वल कुमार सिंह अपने शोध, 'भारत छोड़ो आन्दोलन और राजनीतिक कैदियों' की पड़ताल में यह दिखाते हैं कि 1942 के कैदियों के वर्गीकरण के सिद्धान्त में कांग्रेसी और गैर-कांग्रेसी नजरिये को लेकर बदलाव आया। जहाँ केन्द्रीय सरकारों ने प्रान्तीय सरकारों को यह निर्देश दिया कि वे अपने नियमों में संशोधन करें, ताकि 1942 में अशान्ति पैदा करने के कारण कैद किये गये व्यक्तियों के साथ जेल में किस प्रकार का व्यवहार किया जाये, उसका स्पष्टीकरण हो सके। जहाँ कांग्रेसी कैदियों के लिए विशिष्ट श्रेणी और विशिष्ट परिभाषा का प्रयोग किया जाता था। जहाँ उन्हें 'नागरिक अवज्ञा युद्धबन्दी' के रूप में देखा जाता था। आन्दोलन में शामिल अन्य कैदियों को 'वर्ग स' में रखकर उनके साथ सामान्य व्यवहार किया जा रहा था।[23] यह दाँवपेच औपनिवेशिक राज्य और कांग्रेसी सत्याग्रहियों के बीच होने वाले राजनीतिक वाद-विवाद की देन थी। 1940 के मध्यान्त में, गाँधी के द्वारा व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू करने के बाद गाँधी द्वारा चुने गये सत्याग्रही जो बन्दी बनाये जा चुके थे, औपनिवेशिक राज्य द्वारा सत्याग्रहियों के साथ किये जा रहे व्यवहारों को लेकर गाँधी और कांग्रेस ने राजनीतिक हैसियत की माँग को सामने रखा। जिसे लेकर 1940 में औपनिवेशिक सरकार ने 'क्रान्तिकारी आन्दोलन अध्यादेश' का एक अति गोपनीय मसौदा तैयार किया। इसका मकसद यह था कि कांग्रेस द्वारा किसी भी हड़ताल की जानकारी होते ही उसके शुरू होने से पहले ही उसे खारिज कर देना। मसौदे के अन्तिम प्रारूप को 'आपातकालीन शक्ति अध्यादेश' के शीर्षक से एक व्यापक दस्तावेज के तौर पर प्रसारित किया गया। इस अध्यादेश ने औपनिवेशिक सरकार की शक्ति को पहले से ज्यादा वृहत् रूप दिया, जहाँ शक का होना ही गिरफ्तारी का पर्याप्त कारण माना गया। इसमें विशेष अदालतों का गठन किया गया, जिसे विशेष शक्तियाँ दी गयी थीं। इससे औपनिवेशिक राज्य ने कांग्रेस या गाँधी के अहिंसक आन्दोलन को विद्रोह के रूप में परिवर्तित करने का कार्य भी किया।[24] इससे कांग्रेस और गाँधी आन्दोलन की सीमा को अहिंसक सिद्ध करने की पहली कड़ी को पूरे भारत छोड़ो आन्दोलन में प्राथमिकता दी जाने लगी। जहाँ सत्याग्रही होने का तात्पर्य भी बेहद दिलचस्प था। जहाँ गाँधी स्वयं अगस्त 1942 को लिखे अपने एक लेख, जिसका शीर्षक 'सन्देश : देश के लिए' था, में लिखते हैं - स्वतन्त्रता के हर अहिंसावादी सिपाही को चाहिए कि कागज या कपड़े के एक टुकड़े पर करो या मरो का नारा लिखकर उसे अपने पहनावे पर चिपका ले ताकि वह सत्याग्रह करते हुए मारा जाये तो उसे उस निशानी के द्वारा उन दूसरे लोगों से अलग पहचाना जा सके जो अहिंसा में विश्वास नहीं करते।[25]

गाँधी के इस निर्देश से सत्याग्रही की पहचान तो आवश्यक रूप से हो जाती थी, लेकिन 1942 में उन विद्रोहियों को कैसे शामिल किया जाता जो अपने स्वत्व को राजनीतिक आजादी का पर्याय मान कर औपनिवेशिक राज्य को सफल चुनौती दे रहे थे। आजमगढ़ के अमिला गाँव के अलगु राय शास्त्री द्वारा किया गया विद्रोह इसका प्रमाण है। जब सैनिकों ने

उनके मकान में जबरदस्ती प्रवेश कर उनके सामानों को तोड़ना शुरू करते हुए उसे आँगन में लाकर जलाना चाहा उसी समय भौजी (भोजपुरी में भाभी) सामान के ऊपर बैठ कर अंग्रेजी अफसर और सैनिक को ललकारते हुए कहने लगीं - "आगी पाहिले हमय जलावा फिर सामान जली"। सैनिकों को अथक प्रयास के बाद पीछे हटना पड़ा।[26] यह कारनामा आज भी महराजगंज से लेकर आजमगढ़ शहर तक विद्यमान है। इस प्रकार के विद्रोही तेवर से दो तरह के राजनीतिक टकराव को देखना लाजिम हो जाता है। इनमें से हर एक का उद्देश्य एक दूसरे से अलहदा भी है। एक तरफ का सिलसिला यह है कि राजसत्ता की ओर से प्रभुत्व की धौंस जमाना है तो दूसरी तरफ समुदाय में प्रभुत्व की अस्वीकृति करने का आधार है। इसका पता अपराधी के शरीर पर लगी हानि से ज्यादा जुड़ा हुआ है जो उसके चेतना के उद्देश्य को पूरा करता है। जैसा कि मार्क्स हीगेल की विवेचना करते हुए लिखते है कि अपराध का अस्तित्व एक घटना के रूप में होता है और यह तब तक सकारात्मक बना रहता है जब तक की उसका सम्बन्ध दूसरी दुर्घटनाओं के साथ आपराधिक चरित्र का निर्माण न करे। ऐसा इसलिये भी होता है कि जब एक अपराध को दंड संहिता में लाया जाता है तो सिर्फ आरोपी के बयान और किये गये राज्य आधारित अनुशासन को ही ध्यान में रखा जाता है। उसमें अपराधी के शामिल होने के उद्देश्य और उसकी भावभंगिमा को लगभग नजर-अन्दाज कर दिया जाता है।[27] इसके लिए भौजी का प्रयास लगभग अपराधी तौर पर ही राज्य के द्वारा गिना जाता रहा है। साथ ही उनके प्रयास में राष्ट्रीय आन्दोलन के आदर्श भी विद्यमान नहीं हुए, इसलिये उनकी भूमिका राष्ट्रीय पैराडाइज के बाहर ही रही। भौजी जिस बर्तन और कटोरे को अपने स्वत्व से जोड़ रही थीं उसका महत्त्व ही उनकी चेतना की अभिव्यक्ति है जो निम्नवर्गीय चेतना के दायरे को बनाता है। तोड़ने-फोड़ने की कोशिश औपनिवेशिक राज्य की पुलिस द्वारा की जा रही थी। उसका सम्बन्ध सिर्फ एक भौतिक पदार्थ के रूप में निम्नजनों के बीच विद्यमान नहीं था बल्कि उसका सम्बन्ध उसकी हैसियत और लेन-देन का भी पर्याय बन कर उनके बीच था। जरूरत के साथ इन बर्तनों को गिरवी रख कर कर्ज भी लिए जा सकते थे, जिसकी तोड़-फोड़ ने निम्नजनों के बीच राष्ट्रीय आन्दोलनों के आदर्श तक पहुँचने से पहले वे औपनिवेशिक राज्य के खिलाफ खड़े होते हुए नजर आये थे। रही बात इनके विद्रोहों से राजनीतिक चेतना की उसमें वह ताकत थी जो निर्माण संस्था और राज्य बनाने की या फिर ये संस्थागत बदलाव के प्रति उतनी ही राजनीतिक चेतना रखते थे जो सत्याग्रही होने के प्रमाण के रूप में अभिव्यक्त किया जाता था। तरवाँ थाने की घटना ने राजनीतिक चेतना के एक संस्थागत रूप को सामने रखा। घटना 14 अगस्त की है जहाँ करीब 7-8 हजार आदमियों का एक झुंड थाने पर झंडा फहराने जा पहुँचा। इस झुंड के नेता तेजबहादुर सिंह अपने कुछ साथियों के साथ थानेदार के पास गये और उन्होंने कहा कि जनता के सामने आत्मसमर्पण कर दे। इतने में ही पीछे से थाने पर हमला कर दिया गया और सिपाहियों से बन्दूकें छीन ली गयीं। थाने के तमाम सरकारी कागजों में आग लगा दी गयी। इस प्रकार थाने पर राष्ट्रीय झंडा फहराने लगा। बन्दी बनाये गये अधिकारियों पर मुकदमा चलने के लिए एक अदालत कायम कर ली गयी। न्यायाधीश के रूप में गाँव के

बुजुर्ग जद्दूभर नायक बनाये गये। जब बन्दी के रूप में थानेदार उनके सामने लाया गया तब जद्दूभर का पूरा पहला वाक्य ही यही था कि 'थानेदार भैया तोहर कुछ न बिगड़ी'। वे थानेदार को बाहर निकल जाने का हुक्म दे देते हैं।[28] आज भी गाँव में लोग जद्दूभर को नायक के रूप में उनके इन्हीं वाक्यों को याद करते हुए इन्हें अपनी स्मृतियों में वापिस लाते रहते हैं। इन स्मृतियों का सम्बन्ध राष्ट्रीय आन्दोलन के कलेवर से न तो मिलता है और न ही राष्ट्रीय आन्दोलन इन स्मृतियों के संलग्न करने की कोई जुगत ही लगाता है। यह बात औपनिवेशिक राज्य की एक प्रकाशित पुस्तिका से और साफ हो जाती है।

आरोप प्रत्यारोप का सिलसिला

ब्रिटिश सरकार ने भारत छोड़ो आन्दोलन को लेकर एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसका शीर्षक 'कांग्रेस रिस्पोंसिबिलिटी फॉर द डिस्टर्बिंग 1942-43' रखा गया। जिसमें कांग्रेस के ऊपर यह आरोप लगाया गया कि जन आन्दोलन के नाम पर राष्ट्र के अन्दर उपद्रव किया गया, जिसकी सीधी जिम्मेदार कांग्रेस है। ब्रिटिश शासन की इस पुस्तिका की प्रतिक्रिया में गाँधी ने इसे 'अभियोग पत्र' कह कर इसकी आलोचना की। जहाँ गाँधी ने यह कहा कि यह स्पष्ट ही गलत बात कही गयी है। वास्तव में उपद्रव अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा जन आन्दोलन किये जाने से नहीं बल्कि सरकार द्वारा की जा रही गिरफ्तारियों के पश्चात् हुए थे। उपयुक्त माँगों की बात लें तो जहाँ तक मैं जनता हूँ ये भारत भर में प्रमुख कांग्रेसियों की गिरफ्तारी के बाद शुरू हुआ। कांग्रेस जैसी संस्था, जिसका जन्म ही भारत की स्वाधीनता के लिए हुआ था उसका दमन क्यों किया जाना चाहिए?[29] इस पुस्तिका और गाँधी की प्रतिक्रिया के दो राजनीतिक उद्देश्य थे जो भारत छोड़ो आन्दोलन के बाद भी भारतीय राजनीति का अस्थायी हिस्सा बने रहे। एक, ब्रिटिश सरकार यह बिल्कुल नहीं चाहती थी कि भारत में हो रही अशान्ति का कारण उसे माना जाये। दूसरी तरफ गाँधी द्वारा दिया गया बयान इस जन आन्दोलन की छवि को सुधारने से ज्यादा इस बात पर जोर देता था कि कांग्रेस अपने आप में स्वतन्त्रता का अभिप्राय थी। यह आन्दोलन को इस प्रकार राजनीतिक इतिहास में शामिल करने का प्रयास था कि भारत छोड़ो आन्दोलन गाँधीवाद से चल कर कांग्रेस की जननायक वाली छवि से जाकर जुड़ जाए, जिससे छोटे आन्दोलनों की सूरत या कृषकों के विद्रोह को अलग कर देने वाली धारा का ही लोप हो जाए। इस प्रक्रिया में 24 दिसम्बर, 1945 को बिहार प्रान्तीय छात्र का उद्घाटन करने श्री नेहरू पटना आये, तो सम्मेलन के स्वागत अध्यक्ष श्री जगतनारायण राय ने उनका स्वागत करते हुए कहा - "बलिया और यूपी के पूर्वी जिलों में अत्याचार हुए, उनके कारण आपकी आँखों से आँसुओं का बरबस बह निकलना स्वाभाविक है। परन्तु इस प्रान्त के नवयुवकों और जनता ने जिस साहस के साथ इस क्रान्ति में भाग लिया और विदेशी शासन को देश से जड़-मूल उखाड़ फेंकने के लिए तैयार रहने के कारण जो अत्याचार सहे, उसका परिचय प्राप्त करना आप के लिए आवश्यक है।" इसका उत्तर देते हुए श्री जवाहर लाल नेहरु ने कहा था - "किसी प्रान्त में कोई स्थान चुना जा सकता है परन्तु बिहार तो सारा का सारा ही

क्रान्ति भावना और विद्रोह से ओतप्रोत था। यदि मैं बिहार का उल्लेख न करूँ तो इसका उद्देश्य कदापि नहीं है कि मैं बिहार के वैभव से अनभिज्ञ हूँ।"[30] नेहरू के इस उत्तर को ध्यान से पढ़ने और सुनने में यह बात स्पष्ट होती है कि उनके द्वारा बोला गया हर वाक्य एक दूसरे को धकियाता हुआ बलिया से बाहर निकालता हुआ नजर आता है और चुस्त-दुरुस्त तरीके से कहें तो यह बलिया का वाकया महज एक वाक्यांश बन कर रह गया है। वाक्यों की जो कतार बनाई जाती है, उसे पहले गाँधीवादी सिद्धान्त के तराजू पर रख कर तौला जाता है, जिसमें कांग्रेस राष्ट्रीय संगठन के तौर पर उभर कर समाने आ जाती है और नेता स्थानीय क्रियाकलाप या थाना-फुकव्वल से ऊपर उठ कर 'राष्ट्र' बन जाते हैं।

जनराज की सरकार

16 अगस्त 1942 तक बलिया में स्वतन्त्र सरकार की घोषणा की गयी। जिसे जनराज की सरकार सम्बोधित किया जाता था, जिसमें कांग्रेस के नेता चितू पाण्डे को प्रधान के रूप में चुना गया और इस जनराज को चलने के लिए 20 तारीख को शहर के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की एक सभा हनुमानगंज की कोठी पर बुलाई गयी। उपस्थित जनता ने अपनी सरकार चलाने के लिए हजारों रुपये चन्दे के तौर पर दिये। ब्रिटिश नौकरशाही के पूरे तन्त्र को हटाने के लिए उससे जुड़े मुलाजिमों को नजरबन्द कर दिया गया। इस सरकार ने एक तहकीकात कमेटी का गठन किया और जनता से यह माँग की कि लूटा गया सारा माल वह सरकार के खजाने में जमा करा दे।[31] दिये गये इस विवरण में हमारी सरकार और जनराज दो शब्द बेहद दिलचस्प हैं। हमारी सरकार का सीधा मतलब बलिया की स्मृतियों में अपनी जिन्दगी और स्वायत्त क्षेत्र का निर्माण बलिया की जनता व्यक्तिगत तौर पर करे और जनराज जहाँ उसकी सुनवाई का आधार उसकी अपनी माँग और अपनी इच्छा के अनुसार हो।

अन्त में, जगदीश ओझा ने 'विद्रोही बलिया' नामक कविता में बलिया की इस गौरवगाथा का बड़ा मार्मिक, सटीक और यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है और यह कविता बलिया के चौक पर भी इतिहास में बार-बार दी जाने वाली गवाही के तौर पर अंकित की गयी है -

'भारत छोड़ो' के नारे की बलिया इक अमिट निशानी है
जर्जर तन बूढ़े भारत की, यह मस्ती भरी जवानी है
हो उठा क्रान्ति का शंखनाद, चल पड़ी अहिंसक सैन्य सघन,
छा गयी शत्रु दल पर जाकर, फहराती प्रलय घटा बन-बन
प्रलयंकर मानव रूप देख, आसुरी शक्ति असमर्थ हुई
तलवारें कर से छूट पड़ीं, बन्दूकें उसकी व्यर्थ हुईं
अरियल ने घुटने टेक दिये, यह कल की अभी कहानी है
'भारत छोड़ो' के नारे की, बलिया इक अमिट निशानी है

सन्दर्भ

1. इस पूरे कथन को कहने के लिए ज्ञानेन्द्र पांडे के लेख 'गैरियत का गघ' को आधार के तौर पर इस्तेमाल किया गया है, जो विभाजन और हिंसा को अलग-अलग विमर्शों में रख के समझने की माँग करता है। ज्ञानेन्द्र पांडे (2002) गैरियत का गद्य, संकलित शाहिद अमीन तथा ज्ञानेद्र पांडे (सम्पादित), निम्नवर्गीय प्रसंग, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 196

2. रंजित गुहा (1983) दि प्रोज ऑफ काउंटर-इन्सर्जेंसी, संकलित - रंजित गुहा (सम्पादित), सबाल्टर्न स्टडीज (2) नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 2

3. मेरे द्वारा अपने फील्ड के दौरे के समय, 23 अगस्त 2020

4. सुमित सरकार (1959) मॉडर्न इंडिया : 1885-1947, नयी दिल्ली : मैक्मिलन पब्लिकेशन तथा विपिनचन्द्र एंड अदर्स (2018) इंडियन स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस, नयी दिल्ली : पेंग्विन

5. राजेन्द्र प्रसाद (2011) आत्मकथा, नयी दिल्ली : सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, पृष्ठ 817

6. इन सब बातों की चर्चा महानन्द मिश्र के पुत्र बाबू जी (98) की स्मृतियों के आधार पर रखा गया है, साथ ही अजय कुमार मिश्र की किताब भगत की विरासत इस पूरी घटना को सिलसिलेवार तरीके से बयान करती है

7. अजय कुमार मिश्र से की गयी बातचीत के आधार पर तथा उनकी किताब भगत की विरासत के आधार पर यह विवरण प्राप्त हुआ

8. अमरकान्त (2008) इन्ही हथियारों से, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ 101-02

9. नरेन्द्र शुक्ल (2017) क्रान्तिकारी-गाँधीवादी दर्शन, साहित्य और प्रतिबन्ध संकलित ब्रिटिश राज और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता : औपनिवेशिक भारत में प्रतिबन्धित साहित्य, 1907-1935, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृष्ठ 83

10. वही.

11. इंडिया एन्युअल रजिस्टर, 1942, जिल्द संख्या 2, पृष्ठ 117

12. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, भाग 76, पृष्ठ 176

13. अमरकान्त (2008) इन्हीं हथियारों से, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 21

14. जॉक पुष्पदास (1974) लोकल लीडर एंड द इंटेलिजेंसिया इन द चम्पारण सत्याग्रह (1917) : अ स्टडी इन पेजेंट मोबिलाइजेशन, कॉन्ट्रिब्यूशन टू इंडियन सोशियोलॉजी (न्यू सिरीज) 8, पृष्ठ 85

15. भिर्गु कोहाँर से बातचीत से पता चला, भिर्गु कोहार पूरे गाँव में सिर्फ इसलिये सामान्य नहीं है कि वह यह दावा करते हैं कि उन्होंने गाँधी को देखा है। मेरी बातचीत अगस्त 2021 में हुई. साथ ही यह कहरुआ उत्तर भारत में नौटंकी का ही एक हिस्सा है, जिसका अपना ऐतिहासिक महत्व है। उत्तर भारत में नौटंकी का प्रदर्शन और डुगडुगी की थाप अशिष्ट और अपवित्र कहानियों के साथ सबाल्टर्न के बीच मनोरंजन का एक प्रमुख साधन था। पूर्व आधुनिक समाज तथा आधुनिक समाज में कृषकों के बीच यह रंगमंच पर उनकी स्थिति और उनके कोलाहल को अभिव्यक्त करने का आधार प्रस्तुत करती रही। जिसे मैं अपने इस शोध में कृषकों के राष्ट्रवाद के रूप में देखता हूँ। जैसा कि कैथरीन हैनसेन नौटंकी के विभिन्न तत्वों का अध्ययन करते हुए संगीत, नृत्य, एक साँस में लिये गये बिना विराम वाले वाक्यों से समाज इतिहास की शिनाख्त करती हैं। नौटंकी में प्रयोग किये गये कथाओं की भीतरी परतों से कृषक समाज तथा सबाल्टर्न के राजनीतिक और सामाजिक चेतना की पड़ताल से वह इस बात की ओर ध्यान दिलाती हैं कि राजनीतिक प्राधिकार, सामुदायिक पहचान और लिंग जैसे सामाजिक मुद्दों के प्रतिनिधित्व तरीकों को समाने रखना। विस्तृत विमर्श के लिए देखें - कैथरीन हैनसेन (1992) ग्राउंड फॉर प्ले : द नौटंकी थिएटर ऑफ नार्थ इंडिया, बर्कले : यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस

16. यह विवरण डायरी थाना उभांव 14 अगस्त 1942 से लिया गया है, अजय कुमार मिश्र ने अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय से दिखाने में मदद की, साथ ही देखें - देवनाथ उपाध्याय (1943) बलिया में क्रान्ति और दमन : अगस्त 1942 में बलिया की अल्पकालीन स्वाधीनता तथा नौकरशाही की दमनकारी नीति का इतिहास, इलाहाबाद : किताब घर, पृष्ठ 62

17. यह जानकारी नन्दू शंकर कहार से मिलती है, जो वर्तमान में करीमनपूर के निवासी हैं। मेरी बात-चीत, 10 जनवरी 2020.

18. पुष्पदास का यह कथन चम्पारण के किसान आन्दोलन की खाक छानते हुए रखा है, जहाँ पुष्पदास यह दिखाना चाहते हैं कि 1918 के बाद जब गाँधी चम्पारण छोड़ चुके थे और जब नील बागान मालिकों का प्रभुत्व कम होने लगा था, ग्रामीण अभिजात वर्ग की गिरफ्त और जकड़ पहले से ज्यादा मजबूत हुई। जॉक पुष्पदास (1974) लोकल लीडर एंड द एंटैलिजेंसिया इन द चम्पारण सत्याग्रह (1917) : अ स्टडी इन पेजेंट मोबिलाइजेशन, कॉन्ट्रिब्यूशन टू इंडियन सोशियोलॉजी (न्यू सीरिज) 8, पृष्ठ 85

19. एम.ए. रसूल (1974) ए हिस्ट्री ऑफ आल इंडिया किसान सभा, नयी दिल्ली : नेशनल बुक एजेंसी, पृष्ठ 83 तथा 93

20. फाइल नम्बर 18/12/1943 रिपोर्ट ऑन पोलिटिकल सिचुएशन, 31 अगस्त 1943, प्रोसीडिंग्स विभाग (होम), ब्रांच (पोलिटिकल), राष्ट्रीय अभिलेखगार, नयी दिल्ली

21. स्टीफेन हेनिंघम (1983) क्विट इंडिया इन बिहार एंड ईस्टर्न युनाइटेड प्रोविंसेज : द ड्युअल रिवोल्ट, संकलित रंजित गुहा (सम्पादित) सबाल्टर्न स्टडीज. नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 137

22. देवनाथ उपाध्याय (1943) बलिया में क्रान्ति और दमन : अगस्त 1942 में बलिया की अल्पकालीन स्वाधीनता तथा नौकरशाही की दमनकारी नीति का इतिहास. इलाहाबाद : किताब घर, पृष्ठ 60

23. उज्ज्वल कुमार सिंह (1998) पोलिटिकल प्रिजनर्स इन इंडिया, नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 187

24. फाइल नम्बर 6/3/40, डिपार्टमेंट होम ब्रांच (पोलिटिकल), राष्ट्रीय अभिलेखागार, नयी दिल्ली। साथ ही उज्ज्वल कुमार सिंह की व्याख्या भी इस अध्यादेश के लिए महत्वपूर्ण परत को खोलती है देखें - उज्ज्वल कुमार सिंह (1998), अध्याय 5

25. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खंड 76, पृष्ठ 446

26. गोविन्द सहाय (1943) 1942 का विद्रोह, इन्दौर : नवयुग साहित्य सदन, पृष्ठ 188

27. इस पूरे वाक्यांश को समझने के लिए रंजित गुहा के लेख 'चन्द्रा की मौत' का सहारा लिया गया है, विस्तृत विमर्श के लिए देखें - शाहिद अमीन और ज्ञानेद्र पाण्डेय (सम्पादित) (2002)

28. गोविन्द सहाय (1943), पृष्ठ 186

29. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, भाग 76, पृष्ठ 105 तथा 132

30. क्षेमचन्द्र 'सुमन' (1996) अगस्त क्रान्ति : भारतीय स्वन्त्रता संघर्ष की ओजमयी गाथा, नयी दिल्ली : आर्य बुक डिपो, पृष्ठ 48

31. इस विवरण की जानकारी संयुक्त प्रान्त में रहे पार्लियामेंट्री सेकेट्री गोविन्द सहाय द्वारा दिये गये विवरणों से प्राप्त होती है। जैसा की वह स्वयं चाहते थे कि 42 में दिया गया उनका यह विवरण मेरठ अधिवेशन से पहले प्रकाशित हो जाए, लेकिन विभाजन की लहर और साम्प्रदायिक उन्मादों ने 42 के पूरे संघर्ष पर ही ग्रहण लगा दिया। विस्तृत विवरण के लिए देखें - श्री गोविन्द सहाय (1943) सन बयालीस का विद्रोह, इन्दौर : नवयुग साहित्य सदन, पृष्ठ 178

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 2, दिसम्बर 2022, पृ. 29-35)

पूर्व माध्यमिक स्तर के सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि एवं समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन

संजीव कुमार शुक्ला*

शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक कुशलता सिखाना है। देखने में आता है कि सामान्य विद्यार्थियों का समायोजन भी बदलती हुई परिस्थितियों में प्रभावित होता है। अत: शोधार्थी को यह अनुभूति हुई कि दिव्यांग विद्यार्थियों को भी अपना समायोजन स्थापित करने में विभिन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिससे वह कुसमायोजन का शिकार हो जाते हैं। चूँकि समायोजन शिक्षा पर आधारित होता है, और शिक्षा रुचि से प्रभावित होती है, इसलिये शोधार्थी ने सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि और समायोजन के अध्ययन की आवश्यकता को महसूस किया। प्रस्तुत अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों के माध्यम से इनकी शैक्षिक रुचि और समायोजन सम्बन्धी समस्याओं को जानकर उनका उचित निर्देशन किया जा सकता है। इससे इनकी उपलब्धि में वृद्धि होगी तथा इनकी छिपी हुई प्रतिभा को जानकर इन्हें उभारा जा सकेगा, जो इनके, समाज के तथा राष्ट्र के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। इस प्रकार इन विद्यार्थियों में निहित क्षमताओं का उचित विकास करके, इन्हें इनके समाज तथा राष्ट्र के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है।

---

*असिस्टेंट प्रोफेसर, बी.एड. विभाग, श्री गाँधी महाविद्यालय, सिधौली, सीतापुर (उ.प्र.)
E-mail: sanjeevshukla35@gmail.com

प्रस्तावना

शिक्षा प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ हो। जब शरीर स्वस्थ होगा, तभी मन-मस्तिष्क में शिक्षा रूपी दिव्यपुंज प्रज्वलित हो सकता है। यहाँ पर स्वस्थ शरीर से हमारा तात्पर्य है कि शरीर की सभी ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कामेन्द्रियाँ उचित रूप से कार्यरत हों, जिसमें सभी शक्तियाँ विकास के लिए वातावरण में समायोजन के लिए विद्यमान हैं, यथा - बोलने के लिए वाणी, सुनने के लिए कान, देखने के लिए आँख तथा सोचने के लिए दिमाग और कार्य करने के लिए हाथ-पैर आदि। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि कुछ व्यक्तियों में ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों के संचालन का अभाव होता है, इसी अभाव के कारण व्यक्ति को दिव्यांग की संज्ञा दी जाती है।

दिव्यांग बालकों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या समायोजन की होती है। चूँकि ये विद्यार्थी देखने, बोलने, सुनने तथा हाथ-पैर द्वारा की जाने वाली अन्य क्रियाओं को करने में अक्षम होते हैं, इसलिये ये अपने विचारों, भावनाओं, संवेगों आदि का आदान-प्रदान नहीं कर पाते। ये बालक सामान्य बालकों के साथ खेलना, बोलना, पढ़ना-लिखना तो चाहते हैं, परन्तु उनका सहयोग ना मिल पाने के कारण ये अपनी इच्छाओं का दमन करने लगते हैं, फलस्वरूप इनमें तनाव अथवा कुण्ठा उत्पन्न हो जाती है। घर-परिवार एवं समाज के लोग भी इनके साथ सामान्य व्यवहार नहीं करते, इस कारण इनके कुसमायोजन का स्तर बढ़ जाता है, जो इनकी शैक्षिक रुचि को प्रभावित करता है। विद्यार्थियों के व्यक्तित्व विकास हेतु समायोजन अति आवश्यक है। इस शोध का उद्देश्य सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि एवं समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना है। अध्ययन के निष्कर्ष रूप में ज्ञात होगा कि इन विद्यार्थियों के समायोजन के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्नता है अथवा नहीं।

शैक्षिक रुचि तथा समायोजन पर पूर्व में भी शोध अध्ययन किये जा चुके हैं। त्रिपाठी (2009) ने माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि का उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि उनकी उपलब्धि को सार्थक रूप से प्रभावित करती है। लेबिनसन, एडवर्ड और ओलहर (2011) ने लेटिन हाईस्कूल के छात्र-छात्राओं के मध्य शैक्षिक रुचि जानने हेतु एक शोध अध्ययन किया। इसमें पाया कि छात्रों की शैक्षिक रुचि, छात्राओं की अपेक्षा अधिक होती है। फ्लोर्स, स्पेनियर मैन तथा आर्मस्ट्रांग (2013) ने अमेरिका में हाईस्कूल के विद्यार्थियों पर एक शोध कार्य किया, जिसमें उन्होंने विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि तथा योग्यता की वैधता को जानने का प्रयास किया। इन्होंने निष्कर्ष में पाया कि विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि तथा उनकी योग्यता परस्पर महत्तम रूप से सम्बन्धित है। ग्रीनवर्ज और गिलबर्ट (2014) ने माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में लेटिन और अंग्रेजी माध्यम का शैक्षिक रुचि पर प्रभाव जानने का प्रयास किया। इन्होंने पाया कि लेटिन और अंग्रेजी माध्यम के विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि सामान्य रूप से सम्बन्धित है। हाट्र्स, जेसिका और थामस (2012) ने किशोरों के समायोजन तथा उनके अभिभावकों के मध्य सम्बन्धों पर शोध अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि

किशोरों का समायोजन उनके तथा अभिभावकों के मध्य होने वाले सम्बन्धों और व्यवहारों पर पूर्णत: निर्भर करता है।

इसके साथ ही सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि तथा समायोजन से सम्बन्धित अध्ययन भारत में भी किये जा चुके हैं। श्रीवास्तव (2007) ने अपने अध्ययन में पाया कि उच्च बुद्धि की छात्राओं की शैक्षिक रुचि निम्न बुद्धि की छात्राओं की संस्कृति की अपेक्षा उत्तम है। थामस (2011) ने अपने अध्ययन में पाया कि किशोरों का समायोजन उनके तथा अभिभावकों के मध्य होने वाले सम्बन्धों और व्यवहार पर पूर्णत: निर्भर रहता है। श्रीवास्तव (2011) ने अपने अध्ययन में पाया कि उच्चतर माध्यमिक स्तर पर हिन्दी माध्यम के विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि, अंग्रेजी माध्यम के विद्यार्थियों से कम पाई गयी। सैनी (2005) ने अपने अध्ययन में पाया कि दिव्यांग एवं सामान्य विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि एवं योग्यता परस्पर मध्यम रूप से सम्बन्धित होती है।

उपर्युक्त शोध अध्ययनों की समीक्षा से स्पष्ट होता है कि अभी तक सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि तथा समायोजन पर शोध अध्ययन हुए हैं, परन्तु पूर्व माध्यमिक स्तर के सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि एवं समायोजन पर अध्ययन कार्य नहीं किया गया। इन विचारों ने शोधार्थी को सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि एवं समायोजन पर तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। प्रस्तुत शोध इस दिशा में किया गया एक प्रयास है।

प्रविधिगत सन्दर्भ

अध्ययन के उद्देश्य : सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों की शैक्षिक रुचि का तुलनात्मक अध्ययन करना; सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना; सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के सामाजिक समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना; सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के संवेगात्मक समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना; एवं सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के शैक्षिक समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना।

परिकल्पना : सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों की शैक्षिक रुचि में कोई सार्थक अन्तर नहीं है; सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के समायोजन में कोई सार्थक अन्तर नहीं है;सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के सामाजिक समायोजन में कोई सार्थक अन्तर नहीं है; सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के संवेगात्मक समायोजन में कोई सार्थक अन्तर नहीं है; एवं सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के शैक्षिक समायोजन में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

परिसीमांकन : प्रस्तुत अध्ययन सीतापुर जनपद के पूर्व माध्यमिक विद्यालय तक ही सीमित रखा गया है। प्रस्तुत अध्ययन में 12 से 18 वर्ष की मध्य आयु के सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थियों को सम्मिलित किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में दिव्यांग विद्यार्थियों में दृष्टिबाधित, अस्थि दिव्यांग एवं मानसिक न्यूनता वाले विद्यार्थियों को सम्मिलित किया गया है। अध्ययन में

समायोजन के अग्रलिखित तीन क्षेत्रों को सम्मिलित किया गया है - क. सामाजिक समायोजन, ख. संवेगात्मक समायोजन, ग. शैक्षिक समायोजन।

अध्ययन के चर : स्वतंत्र चर - शैक्षिक रुचि एवं समायोजन। आश्रित चर - सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थी।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य पूर्व माध्यमिक स्तर के सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि एवं समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना है। अत: इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शोधकर्ता द्वारा सर्वेक्षण विधि का प्रयोग गया है।

समग्र : शोधार्थी ने जनसंख्या के रूप में उत्तर प्रदेश राज्य का चुनाव किया और वहाँ के सीतापुर जनपद को लिया है।

न्यादर्श : प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधार्थी द्वारा सम्भाव्य न्यादर्श विधि का प्रयोग किया गया है। अध्ययन में पूर्व माध्यमिक स्तर के कुल 80 विद्यार्थियों को सम्मिलित किया गया है। इसमें 40 सामान्य विद्यार्थी एवं 40 दिव्यांग विद्यार्थियों के चयन में 20 सामान्य छात्र एवं 20 सामान्य छात्राएँ तथा 20 दिव्यांग छात्र एवं 20 दिव्यांग छात्राएँ हैं।

उपकरण : शोध अध्ययन में सिन्हा तथा सिंह द्वारा निर्मित स्कूली छात्रों के लिए समायोजन सूची को लिया गया है। इस प्रश्नावली के तीन क्षेत्रों (संवेगात्मक, सामाजिक एवं शैक्षिक) में विद्यार्थियों के समायोजन का मापन किया गया है। तथा कुलश्रेष्ठ द्वारा निर्मित शैक्षिक रुचि मापन प्रपत्र का प्रयोग किया गया है। कुलश्रेष्ठ द्वारा निर्मित शैक्षिक रुचि मापन प्रपत्र में कुल 42 प्रश्न हैं जो विभिन्न विषयों से सम्बन्धित हैं।

प्रयुक्त सांख्यिकीय प्रविधियाँ : शोधार्थी ने शोध प्रदत्तों के सांख्यिकीय विश्लेषण हेतु मध्यमान, मानक विचलन, मानक त्रुटि, टी-परीक्षण, स्वतन्त्रता का अंश प्रयोग किया है।

आँकड़ों का विश्लेषण एवं व्याख्या

तालिका 1

सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों की शैक्षिक रुचि का तुलनात्मक अध्ययन

विद्यार्थियों का समूह	विद्यार्थियों की संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	SE_D	t
सामान्य छात्र	20	7.25	4.89	1.4	0.71
दिव्यांग छात्र	20	6.25	4.25		

तालिका 1 से स्पष्ट है कि सांख्यकीय प्रविधियों की गणना के पश्चात् क्रान्तिक अनुपात 0.71 प्राप्त हुआ जो सारणी मान से कम है। अत: प्रथम परिकल्पना 'सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों की शैक्षिक रुचि में कोई सार्थक अन्तर नहीं है' को स्वीकृत किया जाता है।

तालिका 2

सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन

विद्यार्थियों का समूह	विद्यार्थियों की संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	SE_D	t
सामान्य छात्र	20	23.5	7.35	1.16	2.98
दिव्यांग छात्र	20	23.0	6.24		

तालिका 2 से स्पष्ट है कि सांख्यकीय प्रविधियों की गणना के पश्चात् क्रान्तिक अनुपात 2.98 प्राप्त हुआ जो सारणी मान से अधिक है। अत: द्वितीय परिकल्पना 'सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के समायोजन में कोई सार्थक अन्तर नहीं है' को अस्वीकृत किया जाता है।

तालिका 3

सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के सामाजिक समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन

विद्यार्थियों का समूह	विद्यार्थियों की संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	SE_D	t	सार्थकता स्तर
सामान्य छात्र	20	6.25	4.07	1.22	3.1	0.1 स्तर पर सार्थक है
दिव्यांग छात्र	20	9	4.38			

तालिका 3 से स्पष्ट है कि सांख्यकीय प्रविधियों की गणना के पश्चात् क्रान्तिक अनुपात 1.22 प्राप्त हुआ जो सारणी मान से अधिक है। अत: तृतीय परिकल्पना 'सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के सामाजिक समायोजन में कोई सार्थक अन्तर नहीं है' को अस्वीकृत किया जाता है।

तालिका 4

सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के संवेगात्मक समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन

विद्यार्थियों का समूह	विद्यार्थियों की संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	SE_D	t	सार्थकता स्तर
सामान्य छात्र	20	7.5	3.8	1.02	2.91	0.1 स्तर पर सार्थक है
दिव्यांग छात्र	20	9.5	4.6			

तालिका 4 से स्पष्ट है कि सांख्यकीय प्रविधियों की गणना के पश्चात् क्रान्तिक अनुपात 2.91 प्राप्त हुआ जो सारणी मान से अधिक है। अत: चतुर्थ परिकल्पना 'सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के संवेगात्मक समायोजन में कोई सार्थक अन्तर नहीं है' को अस्वीकृत किया जाता है।

तालिका 5

सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के शैक्षिक समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन

विद्यार्थियों का समूह	विद्यार्थियों की संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	SE_D	t	सार्थकता स्तर
सामान्य छात्र	20	6.0	4.06	1.4	0.9	0.1 स्तर पर असार्थक है
दिव्यांग छात्र	20	7.75	4.87			

तालिका 5 से स्पष्ट है कि सांख्यकीय प्रविधियों की गणना के पश्चात् क्रान्तिक अनुपात 0.9 प्राप्त हुआ जो सारणी मान से कम है। अत: पाँचवी परिकल्पना 'सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के शैक्षिक समायोजन में कोई सार्थक अन्तर नहीं है' को स्वीकृत किया जाता है।

निष्कर्ष

परिकल्पना 1 - सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों की शैक्षिक रुचि में सार्थक अन्तर नहीं पाया गया।

परिकल्पना 2 - सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के समायोजन में सार्थक अन्तर पाया गया।

परिकल्पना 3 - सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के सामाजिक समायोजन में सार्थक अन्तर पाया गया।

परिकल्पना 4 - सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के संवेगात्मक समायोजन में सार्थक अन्तर पाया गया।

परिकल्पना 5 - सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के शैक्षिक समायोजन में सार्थक अन्तर नहीं पाया गया।

प्रस्तुत शोध अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों से ज्ञात हुआ कि सामान्य छात्रों की अपेक्षा दिव्यांग छात्रों का समायोजन निम्न स्तर का है। चूँकि दिव्यांग छात्र, सामान्य छात्रों की अपेक्षा शारीरिक, मानसिक अथवा किसी अन्य रूप से अक्षम (दुर्बल) होते हैं, इसलिये इनमें हीन भावना का होना स्वाभाविक है, अत: ये कुसमयोजित हो जाते हैं।

प्राय: देखने में आता है कि दिव्यांग छात्रों को समाज में या तो अपेक्षित दृष्टि से देखा जाता है या फिर सहानुभूति की दृष्टि से, जिससे उनका सामाजिक समायोजन प्रभावित हो जाता है। कुसमायोजन तथा हीन भावना के कारण दिव्यांग छात्रों का संवेगात्मक समायोजन भी प्रभावित हो जाता है, अत: वे या तो अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के हो जाते हैं या आक्रामक प्रवृत्ति के। दिव्यांग छात्रों के कुसमायोजित होने के मुख्यत: तीन कारण होते हैं - पारिवारिक, सामाजिक और विद्यालयीन।

निष्कर्षों की उपादेयता (शैक्षिक निहितार्थ)

प्रस्तुत शोध अध्ययन से प्राप्त परिणाम उन अध्यापकों, शिक्षाशास्त्रियों, दार्शनिकों, समाजसुधारकों, निर्देशनकर्ताओं, परामर्शदाताओं, सलाहकारों तथा अभिभावकों के लिए उपयोगी होंगे जो विद्यार्थियों का पथ-प्रदर्शन करते हैं।

चूँकि प्रस्तुत शोध अध्ययन सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों पर आधारित है इसलिये इससे प्राप्त निष्कर्षों की उपादेयता का महत्व और भी बढ़ जाता है। दिव्यांग छात्रों में व्याप्त

हीन भावना एवं कुसमायोजन को दूर करना अति आवश्यक है, जिसके लिए समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा निम्नलिखित प्रयास किये जाने चाहिए -

1. परिवार के सभी सदस्यों द्वारा सामान्य एवं दिव्यांग छात्रों के मध्य किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।
2. अभिभावकों को चाहिए कि वे दिव्यांग बालकों के साथ न तो उपेक्षित व्यवहार करें और न ही दयापूर्ण। बल्कि इनके साथ भी सामान्य छात्रों की भाँति ही सामान्य व्यवहार करना चाहिए।
3. अध्यापकों को विद्यालय में सामान्य तथा दिव्यांग छात्रों के साथ समान व्यवहार करते हुए अनुकूल वातावरण निर्मित करना चाहिए। शिक्षकों को चाहिए कि वे अपने विद्वतापूर्ण-चिन्तनयुक्त ज्ञान से छात्रों के समायोजन में उनकी सहायता करें। विद्यालय प्रशासन, प्रधानाचार्यों, अध्यापकों तथा सहायक अध्यापकों को अपना यह कर्तव्य मानना चाहिए कि वे दिव्यांग छात्रों को आवश्यकतानुसार प्रोत्साहित करें और उनकी समस्याओं का उचित समाधान, मनोवैज्ञानिक ढंग से करें।
4. विभिन्न सामाजिक तथा स्वयंसेवी संस्थाओं को दिव्यांग छात्रों के सुसमायोजन हेतु प्रयास करना चाहिए। इसके लिए विशेष प्रकार के शिक्षण संस्थानों, रोजगार तथा प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए। विभिन्न रचनात्मक कार्यों में इन्हें अपनी योग्यता को प्रदर्शित करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए।

सन्दर्भ

सैनी, आर.पी. (2005), *सामान्य एवं विकलांग किशोर छात्रों व छात्राओं की शैक्षिक रुचि, उपलब्धि, समायोजन एवं उनकी व्यावसायिक चिन्ता का तुलनात्मक अध्ययन,* पीएच.डी. शोध प्रबन्ध, शिक्षा संकाय, छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर, उत्तर प्रदेश।

श्रीवास्तव, सपना (2007), *शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों के सामान्य एवं विकलांग विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि एवं समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन,* लघु शोध प्रबन्ध, सम्बद्ध महाविद्यालय, छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर, उत्तर प्रदेश।

त्रिपाठी, एम.एल. (2009), 'माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की शैक्षिक रुचि का उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन', *जर्नल ऑफ इण्डियन साइकोलॉजिकल एब्सट्रेक्ट,* अंक 25, पृ. 372।

ग्रीनवर्ज एवं गिल्बर्ट (2014), 'द इफेक्ट ऑफ मीडियम ऑफ स्टूडेंट्स एंड बिहेवियर', *जर्नल ऑफ वोकेशनल एण्ड एजुकेशनल गाइडेंस,* अंक 27, पृ. 168।

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 2, दिसम्बर 2022, पृ. 36-48)

पहचान और विकास के लिए संघर्ष : पूर्वी उत्तर प्रदेश का निषाद समुदाय

विपिन पटेल*

निषाद/मल्लाह समाज की जातीय पहचान निर्माण और विकास की प्रक्रिया के साथ जुड़ी है। इस प्रक्रिया का विश्लेषण औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक सूचनाओं के विभिन्न स्रोतों के सन्दर्भ में किया गया है। गोरखपुर क्षेत्र के गावों में निषाद समुदाय का बाहुल्य है। इन लोगों को अपने रोजमर्रा जीवन में भेदभाव, कलंक और असमानता का सामना करना पड़ता है। शोध-पत्र में उत्तर-औपनिवेशिक युग के हस्तक्षेपों के परिणामस्वरूप और प्रतिक्रिया में निषादों की सामाजिक-आर्थिक और शैक्षिक स्थिति का वर्णन किया गया है। निषाद अपनी पूर्ण पहचान का दावा करने के लिए विभिन्न प्रतीकों, कहानियों और आख्यानों का उपयोग करते आये हैं। हाल ही में निषाद समुदाय के बुद्धिजीवियों द्वारा उत्तर प्रदेश में जाति आधारित राजनीतिक दलों, संगठनो और जाति पत्रिकाओं के माध्यम से सत्ता में अपनी हिस्सेदारी की माँग की गई है।

भारत विश्व का सर्वाधिक स्तरीकृत समाज है, जहाँ पर भारी असमानताओं के साथ धार्मिक, जातीय और सामुदायिक अन्तर देखने को मिलता है जो रोजमर्रा के सामाजिक सम्बन्धों से गहराई से जुड़ा हुआ है। निस्सन्देह, जाति और समुदाय की अन्त:क्रियाओं की

*पीएचडी शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, सामाजिक विज्ञान स्कूल, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली. E-mail: du.vipinpatel@gmail.com

प्रकृति समय के साथ बदली है, लेकिन सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में वर्णात्मक आधार पर विचार अभी भी महत्वपूर्ण चिह्न बने हुए हैं। हालाँकि अन्य समाजों में भी धार्मिक और जाति के आधार पर अन्तर देखने को मिलता है। जो चीज भारत को विश्व के अन्य देशों से अलग करती है वह उसका जाति व्यवस्था का प्रचलन है (गुप्ता, 2005)। सुरिन्दर जोधका के अनुसार जाति एक प्राचीन भारतीय संस्था है, जो हिन्दुओं की प्रमुख धार्मिक विचारधारा से निकली है। हिन्दुओं की धार्मिक व्यवस्था ने मनुस्मृति में उच्चारित वर्ण, कर्म और धर्म के महत्व को रेखांकित किया है। इन विचारों ने एक पदानुक्रमित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया, जो पवित्रता और प्रदूषण की धारणाओं के इर्द-गिर्द घूमती है। आधुनिक भारत में लोकतन्त्र के विस्तार, तेजी से बदलती आर्थिक व्यवस्थाओं और शैक्षिक प्रणालियों के साथ जाति के विचार को अपनी अपील और मूल्य को खो देना चाहिए था लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इसके विपरीत आज जाति की स्थिति कई मायनों में कहीं अधिक स्पष्ट है, जबकि सात दशक पहले पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था की पकड़ बहुत मजबूत थी। हमारे सामने यह सवाल खड़ा होता है कि आखिर जाति को क्या हो रहा है? समकालीन भारतीय सन्दर्भ में इस प्रश्न के सरल उत्तर की अनुमति नहीं दी जा सकती है लेकिन आधुनिक भारत में जाति के अनेक और विविध अनुभव रहे हैं। इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर कर सकता है कि किसी जाति विशेष के लोगों का अनुभव कैसा रहा है। इसके अलावा इस तरह के एक प्रश्न के कई उत्तर हो सकते हैं। आज 'जाति का प्रश्न' केवल एक अकादमिक मामला नहीं है, बल्कि जाँच और विश्लेषण का विषय है। इसकी अकादमिक चर्चाएँ हमेशा नैतिक और अनुभवात्मक आयामों पर चलती हैं (जोधका, 2018)। हालाँकि, भारत में जाति पर विभिन्न सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा इसके असंख्य पहलुओं पर व्यापक रूप से शोध और अध्ययन किया गया है, लेकिन इनमें से कई अध्ययन या तो सैद्धान्तिक हैं या उनके साक्ष्य एक दशक पुराने हो गये हैं (जैसे गेर्थ एंड मिल्स, 1946; डुमोंट, 1980; गुप्ता, 2000; देसाई, 2010; देशपांडे, 2000; थोराट और न्यूमैन, 2009; देसाई और दुबे, 2012; देशपांडे, 2012; गोली एवं अन्य, 2013; सिंह, 2021)।

भारत में पवित्रता और प्रदूषण के विचारों को सार्वभौमिक रूप से जाति व्यवस्था की मूल विशेषताओं के रूप में मान्यता प्राप्त है। अस्पृश्यता की विचारधारा की प्रथा सीधे ऐसे विचारों से उत्पन्न हुई, जिन्होंने पदानुक्रम को भी संस्थागत रूप दिया। यह ऐसी सामाजिक और सांस्कृतिक प्रथा है जो उच्च जाति के द्वारा सामाजिक व्यवस्था में नीचे के लोगों के लिए अवमानना की वकालत करती है। पिछले कई वर्षों से जाति की संस्था अपने कई अलग-अलग अवतारों में जीवित रही है, लेकिन जिस प्रतिमान के भीतर वह कार्य करती है और उसे व्यक्त किया जाता है, उसमें पिछले कुछ वर्षों में कई बदलाव हुए हैं। इस प्रकार से पवित्रता और प्रदूषण के विचारों ने जाति की शक्ति को वैधता प्रदान की, जो अक्सर प्रतीकात्मक और 'शारीरिक' हिंसा, सामाजिक असमानता की एक प्रणाली को प्रदर्शित करती है। जो जाति आज प्रदूषण की रेखा (निम्न जातियाँ) के नीचे स्थित हैं, चाहे वह दलित हों या पिछड़े, ऐसा माना जाता है कि

उन्हें सवाल करने का अधिकार नहीं है। इन्हीं निम्न जातियों में एक जाति है निषाद अथवा मल्लाह। यह जाति असमानता, गरीबी और अधिकारों को लेकर सतत संघर्षरत है। इन्हें जाति और अपने व्यवसाय के आधार पर विभेद का सामना करना पड़ता है। ये समुदाय अति पिछड़ा, अशिक्षित और बेरोजगार है जिसे आज तक मान्यता और सामाजिक न्याय में स्थान नहीं मिला। उत्तर प्रदेश के निषाद समाज की जातीय पहचान, निर्माण और विकास की प्रक्रिया के साथ जुड़ी है, जो पूर्वी उत्तर प्रदेश की निषाद जातियों के मछली पकड़ने और नदी किनारे रहने वाले समूह पर ध्यान केन्द्रित करता है। उत्तर-औपनिवेशिक युग के हस्तक्षेपों के परिणामस्वरूप और प्रतिक्रिया में निषादों की पहचान की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का वर्णन किया गया है। निषादों के साथ किये जाने वाले जातिगत और वर्ग हिंसा का विश्लेषण करता है, जो भारत के सबसे बड़े राज्य की सामाजिक-जातीय और धार्मिक जटिलताओं को दर्शाता है।

यह शोध-पत्र हाशिये पर रहने वाले निषाद समुदाय के रोजमर्रा के जीवन में प्रभाव और राज्य की उपस्थिति का पता लगाने का प्रयास करता है क्योंकि यह ऐतिहासिक रूप से अलग-अलग तरीकों से सामने आता है। इस तरह का विश्लेषण इस बात की गहरी समझ प्रदान करने के लिए उपयोगी है कि निषाद समुदाय भारतीय लोकतन्त्र को कैसे देखते हैं और राज्य-समाज के बदलते हुए गठजोड़ में उनकी अपनी स्थिति क्या है। शोध-पत्र को तीन खंडों में विभक्त किया गया है। पहले खंड में निषाद/मल्लाह की पहचान निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है, दूसरे खंड में इस बात का विस्तृत विश्लेषण किया जाएगा कि किस प्रकार से औपनिवेशिक शासन द्वारा बनाए गए कानूनों ने विभिन्न समुदायों को, विशेषकर निषाद समुदाय को हाशिए पर पहुँचाया और इस कलंक को भारत में मौजूद प्रथाओं से जोड़ा। इसके साथ ही औपनिवेशिक काल के उस बिन्दु को दर्शाता है जिसके दौरान मल्लाहों को कानूनी रूप से 'आपराधिक जाति' के रूप में परिभाषित किया गया और स्वतन्त्रता के बाद भी वह अपने अधिकार और सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष कर रहे हैं। निषाद समुदाय में बेदखल और बहिष्करण रोजमर्रा की जिन्दगी का एक हिस्सा बन चुका है। अन्तिम खंड में निषादों की पारम्परिक छवि को दर्शाया गया है, जिसमें एकलव्य, फूलन देवी जैसे नायकों की मदद से यह समुदाय अपना भविष्य बना रहा है तथा एक हाशिये पर खड़ा समुदाय अपने आत्म-इतिहास, स्मृति और दावे का निर्माण कैसे करता है।

शोध प्रविधि

ये अध्ययन मुख्य रूप से पूर्वी उत्तर प्रदेश में निषादों की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक स्थिति के सम्बन्ध में विभिन्न स्रोतों से प्राथमिक और द्वितीयक तथ्यों पर आधारित है। लेखक द्वारा 2019-20 के बीच किये गये गोरखपुर क्षेत्र के गाँवों में सर्वेक्षण और साक्षात्कार तथ्यों का मुख्य स्रोत है। तथ्य संकलन में कार्यकर्ताओं, नेताओं और निषाद समुदाय के लोगों के साथ समूह-चर्चा और साक्षात्कार शामिल है। प्रासंगिक जानकारी जनगणना, विभिन्न शोध अध्ययनों, समाचार पत्रों, रिपोर्ट और वेबसाइटों से एकत्र की गई है।

निषाद पहचान का निर्माण

मानव की पहचान सार्वभौमिक है, जिसे अक्सर स्वयं स्पष्ट और समस्याग्रस्त माना जाता है। एक अवधारणा के रूप में यह राज्य की पहचान, राष्ट्रीय पहचान, जातीय, आदिवासी या व्यक्तिगत पहचान आदि से जुड़ा हुआ है। कुछ विशेषताओं जैसे भाषाओं के आधार पर, सामान्य विशेषताओं को साझा करने के आधार पर समूह के सदस्यों की पहचान, लिंग, धर्म, संस्कृति, जातीयता आदि पहचान के अस्तित्व या गठन को इंगित करता है। पहचान में इस सवाल का जवाब होता है कि मैं कौन हूँ (हम हैं) और मैं (हम) क्या पहचानूँ? इनमें दूसरों के बीच, एक आम संस्कृति (सामान्य मूल्यों और मानदंडों सहित), एक आम भाषा, एक आम धर्म, एक समूह एकजुटता की चेतना, ऐतिहासिक नियति और साझा क्षेत्र, इतिहास आदि के बारे में भावनात्मक प्रतिबद्धता शामिल है (मंडल, 2016)। वहीं दूसरी ओर राज्य को राज्य संरचना के निर्माण और रखरखाव के माध्यम से पहचान की राजनीति में एक सक्रिय योगदानकर्ता के रूप में देखा जाता है, जो पहचानों के सन्दर्भ में लोगों को परिभाषित करता और पहचानता है। भारत में विभिन्न जातियों और समुदायों की पहचान भाषा, धर्म और जातीयता पर आधारित है। चार्ल्स टेलर के अनुसार समकालीन राजनीति में मान्यता किसी भी समुदाय के लिए बहुत बड़ी बात है। राष्ट्रवादी आन्दोलनों से लेकर नारीवाद, बहुसंस्कृतिवाद, अल्पसंख्यक और निम्न व्यक्ति (सबाल्टर्न समूहों) की ओर से माँगों तक, मान्यता का आह्वान राजनीतिक प्रवचन का मुख्य आधार है और आंशिक रूप से अच्छे कारण के लिए है। हमारी पहचान आंशिक रूप से मान्यता या इसकी अनुपस्थिति से आकार लेती है, इसके अतिरिक्त मान्यता की विफलता वास्तविक नुकसान का कारण बन सकती है, जबकि गलत पहचान केवल उचित सम्मान की कमीं नहीं है, बल्कि 'एक महत्वपूर्ण मानवीय आवश्यकता' है (टेलर, 1994)। वास्तव में पहचान संकट औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारत में सबसे गम्भीर मुद्दों में से एक बन गया था। प्रत्येक जातीय समूह अपनी जातीय-आधारित पहचान का दावा करना चाहता है। अन्य समुदायों की तरह, उत्तर प्रदेश के निषाद[1] समुदाय ने भी लम्बे समय से पहचान, प्रतिनिधित्व और पुनर्वितरण न्याय की राजनीति के लिए संघर्ष किया है। प्रत्येक समुदाय की अपनी विशेष पहचान और इतिहास होता है, जो दूसरे को स्पष्ट समझ रखने और उस विशेष समुदाय के विकास के लिए आवश्यक कदम उठाने में मदद करता है। निषाद, मल्लाह जाति की एक उप-जाति है, जो एक 'जलकेन्द्रित' समुदाय है, जिसका प्राथमिक व्यवसाय नौकाविहार और मछली पकड़ना है। 'मल्लाह' शब्द का उपयोग नाव की सवारी करने वाले व्यक्ति को दर्शाने के लिए किया जाता रहा है (नारायण, 2009)। क्रुक के अनुसार यह अरबी शब्द मल्लाह से लिया गया है जो एक व्यावसायिक शब्द है - 'पक्षी की तरह अपने पंखों को हिलाना'। इसके अलावा इस समूह में कई समुदाय शामिल हैं, ये हैं - मल्लाह, केवट, धीमर, कराबक, निखड़, कछवाहा, मांझी और जालोक। माना जा रहा है कि निषाद शब्द को निषाद में तब्दील कर दिया गया है। शेरिंग के वर्गीकरण के अनुसार, पूर्वी उत्तरप्रदेश में नाविक जातियों के लोग मल्लाह जाति से सम्बन्धित हैं। उन्हें (भाग III, उप-अध्याय XIII में) बुनकरों, रंगरों, स्व-निर्माताओं

और अन्य लोगों के साथ रखा गया है। सभी नाविकों को मल्लाह कहा जाता है, चाहे वे किसी भी जाति के हों। फिर भी मल्लाहों की एक विशेष जनजाति है, जो कई कुलों में विभाजित है।[2] इसके अलावा निषाद समाज के लोग अपने समुदाय को रामायण के पौराणिक आख्यान का हवाला देते हुए जाति की पहचान के एक महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में अपनी परम्परा का वर्णन करते हैं। क्रुक के अनुसार - "रामायण में उनके राजा का वर्णन राम और सीता के साथ उनके वनवास के दौरान किया गया है, जिसमें निषादराज ने राम को नदी पार करने में मदद की थी।" बद्री नारायण के अनुसार वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश में निषादों की कई उपजातियाँ हैं ये सभी उपजातियाँ कभी मल्लाह समुदाय का हिस्सा थीं, जैसे - निषाद, केवट, मल्लाह, गोरिया, गोध, धारक, गुरियारी, तियार, तंवर, बिन्द, बाथम, बठवा, चाय, यार, सोरहिया खुलवत, खरबिन्द, तुराहा, रायवर, साहनी, कश्यप, कहार, धिमार, मांझी, मझवार और लोध। इनमें सबसे महत्वपूर्ण उपजातियाँ निषाद, बिन्द, लोध, कश्यप और केवट हैं। लेकिन अभी कई निषाद संगठन जैसे राष्ट्रीय निषाद संघ, निषाद कल्याण सभा और महाराजा निषादराज गुह्य स्मारक समिति जैसे जाति संगठन निषादों की सभी उपजातियों को एक बड़े निषाद समुदाय में एकजुट करने की कोशिश कर रहे हैं ताकि उन्हें एक छत के नीचे लाया जा सके। जबकि निषाद समुदाय उत्तर प्रदेश में अति पिछड़ा जाति (एमबीसी)[3] के अन्तर्गत आती है परन्तु उनकी स्थिति अनुसूचित जाति जैसी ही है।

निषाद समुदाय की सामाजिक-आर्थिक स्थिति

निषाद अपने दैनिक जीवन में गरीबी का अनुभव करते हैं। अधिकांश घाटों और नदियों के पास रहते हैं, जहाँ वे काम करते हैं। जो निषाद काम के लिए शहरो में रह रहे हैं उनमें से अधिकांश नाविक अपने विस्तारित परिवारों के साथ रहते हैं और उनके घर आम तौर पर एक या दो तंग कमरों से अधिक नहीं होते हैं। निषाद नाविक जो शहरों में काम करते हैं, मानसून के महिनों में बहुत कम कमाते हैं, वह भी तब जब कुछ पर्यटक या तीर्थयात्री आते हैं। इन कठिन महिनों के दौरान कुछ अपनी बचत पर भरोसा करते हैं, जबकि अन्य अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए आकस्मिक कामों का सहारा लेते हैं (डोरोन, 2010)। निषादों की आमदनी का मुख्य जरिया सब्जी की खेती, मछली पकड़ना और मजदूरी है, जहाँ वे रोज के तीन सौ रुपये तक कमा लेते हैं। नदी में मछली पकड़ना निषादों का पारम्परिक कार्य है, लेकिन धीरे-धीरे इस रोजगार पर संकट बढ़ता जा रहा है। नदी में कुछ सालों से मछली मिलना कम हो गयी हैं। पर्यावरणीय संकट ने वैश्विक स्तर पर नदियों, पहाड़ों, पठारों और विभिन्न पारिस्थितिक स्थलों में रहने वाले लोगों के जीवन को खतरे में डाल दिया है। निषाद समुदाय पर पूर्व में ज्यादा अध्ययन नहीं हुए हैं। शैक्षिक जगत् में इस समुदाय पर अध्ययन का अभाव रहा है। वर्तमान समय में कुछ समाजशास्त्रियों ने इस समुदाय पर प्रभावी कार्य किया है।

भूमि, कृषि की आवश्यक इकाई है। इसके बिना कोई भी फसल नहीं उगाई जा सकती है। कृषि वर्ग संरचना में भूमि के स्वामित्व और परिचालन जोत के आकार को समझना महत्वपूर्ण है (रावल 2008)। प्रस्तुत अध्ययन में गोरखपुर जिले की निषाद बस्तियों को चुना गया है।

तालिका 1
निषाद समुदाय की भूमि का आकार

भूमि	आवृत्ति	प्रतिशत
भूमिहीन	36	18
0-1 एकड़	112	56
1-2 एकड़	36	18
2-4 एकड़	16	8
5 एकड़ से अधिक	0	0

स्रोत- सर्वेक्षण पर आधारित

भूमि स्वामित्व का आकार तालिका 1 में दर्शाया गया है। अध्ययन में जोत के आकार के आधार पर किसानों को भूमिहीन, सीमान्त, छोटे, मध्यम और बड़े रूप में वर्गीकृत किया गया है। सीमान्त, छोटे, मध्यम और बड़े खेतों के लिए मानदंड 0-1 एकड़ से कम, 1-2 एकड़, 2-4 एकड़ और 4 एकड़ से अधिक भूमि है। उत्तर प्रदेश में निषाद समुदाय में भूमि जोत का औसत आकार छोटा है। एमबीसी में सबसे पिछड़ी जातियाँ, जैसे निषाद आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़ी हुई हैं। समुदाय में 18 प्रतिशत किसान भूमिहीन हैं जो दूसरों की जमीनों पर मजदूर के रूप में कार्य करते हैं। अधिकतर के पास औसतन 0-2 एकड़ जमीन है और उनके समुदाय में कोई धनी जमींदार नहीं है, जो यादव और कुर्मी जैसी अन्य पिछड़ी जातियों में देखने को मिलते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में भूमि-धारक संरचना समझने के पूर्व कृषि, वर्ग और जाति के मध्य सम्बन्धों को समझना होगा क्योंकि यहाँ की प्रमुख जातियों ने भूमि जोत और श्रम को नियन्त्रित किया हुआ है। जाति का वर्चस्व जगह-जगह बदलता रहता है, लेकिन आमतौर पर उच्च जातियों की पकड़ वाले उत्तर प्रदेश के पूर्वी हिस्से में निषाद समाज की मजबूत पकड़ है।

निषाद समुदाय की शिक्षा का स्तर

शिक्षा किसी व्यक्ति को समाज के सदस्य के रूप में अपने सभी संकायों का यथासम्भव पूर्ण उपयोग करके अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए तैयार करने की प्रक्रिया है। उत्तर प्रदेश में शिक्षा के मामले में हालाँकि सभी जातियों के समूहों में साक्षरता दर में सुधार हुआ है। अगर हम निषाद समुदाय की सामान्य जातियों से तुलना करें तो विद्यालयों में अति पिछड़ी जातियों के छात्रों के साथ निरन्तर भेदभाव, असमान व्यवहार और खराब आर्थिक स्थिति उनके उच्च शिक्षा तक नहीं पहुँचने का सम्भवतः प्रमुख कारण है।

क्षेत्र सर्वेक्षण से पता चलता है कि राज्य में जनसंख्या की शैक्षिक स्थिति को देखते हुए गोरखपुर में लगभग 38 प्रतिशत निषाद समुदाय ग्रामीण परिवार निरक्षर हैं (तालिका 2)। उनमें से अधिकांश हाई स्कूल की शिक्षा पूरी होने से पहले ही पढ़ाई छोड़ देते हैं, इस प्रकार उच्च शिक्षा तक नहीं पहुँच पाते हैं। विषम धन वितरण और निषाद जातियों के बीच बहु-आयामी गरीबी के उच्च प्रसार को भी जातिगत असमानताओं के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। पुरानी पीढ़ी के जो निषाद रहे हैं उनके बीच शिक्षा असामान्य है और अधिकांश निरक्षर हैं।

तालिका 2
निषाद समुदाय की शिक्षा का स्तर

शिक्षा का स्तर	प्रतिशत
निरक्षर	37.9
10वीं तक	46.95
12वीं तक	8.62
उच्च शिक्षा	6.8

स्रोत - सर्वेक्षण पर आधारित

गोरखपुर निषाद बस्ती में उच्च अध्ययन के लिए स्थानीय क्षेत्र में कोई कॉलेज या शैक्षणिक संस्थान नहीं हैं। जो लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें घर से लगभग 20 किमी दूर जाना होता है। हालाँकि, युवा निषादों में से अधिकांश को प्राथमिक स्कूली शिक्षा (कक्षा 5वीं तक) और बुनियादी पढ़ने-लिखने का कौशल प्राप्त है। इसलिये आश्चर्य नहीं कि कुशल/योग्य रोजगार की सम्भावना नगण्य है। इसके अतिरिक्त जब कई निषाद दावा करते हैं कि वे चाहते हैं कि उनके बच्चे शिक्षित हों और इस तरह के योग्य कार्य प्राप्त करें, परन्तु रोजमर्रा की जिन्दगी की सामाजिक-आर्थिक वास्तविकता, साथ ही जातिगत भेदभाव, उन्हें यह सब प्राप्त करने से रोकता है। नाविक एक वंचित और अधीनस्थ समूह है और इस तरह उनकी संरचनात्मक और भौतिक स्थिति उनके जीवन को बाधित करती है।

निषाद समुदाय का राजनीतिक प्रतिनिधित्व

उत्तर प्रदेश के गाजीपुर, गोरखपुर, सन्त कबीर नगर, मिर्जापुर, भदोही, इलाहाबाद और फतेहपुर जैसे कई जिलों में निषाद समुदाय की बहुलता देखने को मिलती है। वहाँ पर कई स्थानों पर यह समाज निर्णायक भूमिका निभाता है इसलिये काफी समय से सभी राजनीतिक दलों की नजर निषाद समुदाय पर रहती है। पिछले बीस वर्षों में, निषादों ने चुनावी राजनीति में मजबूत पैठ बनाना शुरू किया है। पहले हर पार्टी में कुछ निषाद नेता होते थे, लेकिन फूलन देवी (1963-2001) के उदय ने इस परिदृश्य को बदल दिया, क्योंकि वो निषाद पहचान और मुक्ति का पर्याय बन गईं। समाजवादी पार्टी के टिकट पर लोकसभा चुनाव लड़ने के निर्णय ने इस प्रमुख ओबीसी जाति के बीच फूलन देवी को स्थापित होने में मदद मिली। 2016 में डॉ. संजय निषाद द्वारा निषाद पार्टी के गठन के साथ इस समुदाय ने और अधिक शक्ति प्राप्त की। निषादों के लगभग दो दर्जन से अधिक समूह उत्तर प्रदेश में राजनीतिक दलों और संगठन के रूप में पंजीकृत हैं, जिनमें विकासशील इंसान पार्टी (वीआईपी), प्रगतिशील मानव समाज पार्टी, सर्वहारा विकास शामिल हैं। लुतानराम निषाद और संजय निषाद जैसे बुद्धिजीवियों के नेतृत्व में निषाद समुदाय अपनी संस्कृति और इतिहास को लिखने और फैलाने की कोशिश कर रहा है।

उपनिवेशवाद और समकालीन दृष्टिकोण से निषादों का जीवन

उपनिवेशवाद के अध्ययन के माध्यम से अक्सर आधुनिक औपनिवेशिक राज्य की एकरूपता और नियन्त्रण प्रवृत्तियों को उजागर किया जाता है, जो अनुशासित, संगठित और उत्पादक विषयों के लिए डिजाइन किए गए प्रशासनिक और कानूनी संस्थानों के माध्यम से किए जाते हैं। आश्चर्य की बात नहीं कि मल्लाह जाति का नाविकों और मछुआरों की जाति के रूप में वर्णित किया गया, बल्कि चोरी के कृत्यों में लिप्त, एक अपराधी जाति के रूप में भी सूचीबद्ध किया गया था। ब्रिटिश जब भारतीय उपमहाद्वीप में आये थे तो उनका सबसे पहले जिस समूह से सामना हुआ वह निषाद/नाविक थे। भारत में सड़कों और रेलवे के आगमन से पहले नदियाँ पूरे भारत में संचार की मुख्य धमनियाँ थीं। गंगा नदी मुख्य वाणिज्यिक और संचार मार्ग थी, जिस पर यात्री और सैन्यकर्मी बंगाल की खाड़ी से उत्तर की ओर बढ़ सकते थे। 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों द्वारा ब्रिटिश भारत में कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कई नये कानून और नियमों का निर्माण किया गया जिनके आधार पर आपराधिकता के कई नये नियम लाए गए। आपराधिकता की चर्चा आंशिक रूप से स्थानीय अभिजात्य वर्ग द्वारा समर्थित, भारतीय समाज के एक ध्रुवीय दृष्टिकोण पर आधारित थी। औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों द्वारा हर उस समुदाय को सन्देह की नजर से देखा जाता था जो चारवाहे, घुमक्कड़, पर्वत या जंगलों और नदियों या समुद्र के किनारे बसने वाले समुदाय थे। निषाद समुदाय भी नदियों और समुद्रों के किनारों पर रहते थे, इसी वजह से उन्हें सन्देह की नजर से देखा जाता था। 1871 में क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट लाया गया, जिसके तहत कुछ समुदायों को अपराधी के रूप में चिह्नित किया जाने लगा।

औपनिवेशिक शासन में निषादों/मल्लाहों को उत्पीड़न और कलंक के अधीन कर दिया गया था, जिसमें एक अपराधी जाति का टैग शामिल था (डोरोन, 2010; जस्सल, 2001)। स्वतन्त्रता के बाद के युग ने व्यावसायिक अवसरों के साथ सभी समुदायों को नयी उम्मीदें दीं। सभी नागरिकों को राज्य द्वारा सामान नागरिक अधिकार प्रदान किए गए। लोगों की ऐसी आशाएँ राज्य की पहल पर आधारित थीं जिसमें समान अवसर प्रदान करने और सामाजिक उत्पीड़न और जाति पूर्वाग्रह से पीड़ित निचली जातियों को सशक्त बनाने के उद्देश्य से सकारात्मक भेदभाव की नीति शामिल थी।

निषाद समाज एक विशाल समुदाय है, जिसने सदैव राष्ट्र की रक्षा के लिए बलिदान दिया है। इतिहास साक्षी है कि सभ्यता और संस्कृति की उत्पत्ति और विकास घाटियों और नदियों से हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि निषाद सभ्यता और संस्कृति के रचयिता रहे हैं। निषाद समुदाय ने भारत को व्यापार, जल परिवहन और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के माध्यम से समृद्ध बनाकर योगदान दिया है। निषादों ने स्वतन्त्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और विनाशकारी बाढ़ के दौरान जीवन बचाने के अपने काम को जारी रखा है। वे राष्ट्र के सतर्क रक्षक और समाज के सच्चे सेवक बने रहते हैं। ...आजादी के बाद उम्मीद थी कि निषादों को न्याय मिलेगा और विकास के समान अवसर मिलेंगे, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इस

लोकतन्त्र में कृषि किसान सुरक्षित और स्थिर हैं, (राज्य के) अधिकारी बन रहे हैं, जबकि जल किसान (जल कारक), निषाद, अपने पैतृक अधिकारों और पारम्परिक व्यवसायों से वंचित हैं और इन व्यवसायों की नीलामी के माध्यम से मुट्ठी भर लोग उनका शोषण कर रहे हैं, पैसा कमा रहे हैं। क्या यह लोकतन्त्र पर काला धब्बा नहीं है? इस काले धब्बे को मिटाने की जरूरत है (नाविक संघ, हैंडबिल, बनारस, 1979)।[4]

हैंडबिल में निषाद नाविक समुदाय राष्ट्र-राज्य की स्थानिक, राजनीतिक और प्रतीकात्मक संरचनाओं में अंकित है। निषाद समाज ने औपनिवेशिक दमन के खिलाफ संघर्ष में भाग लिया और राष्ट्र-राज्य के प्रति अपनी वफादारी स्थापित की। परन्तु निषाद समुदाय के लिए एक न्यायपूर्ण लोकतान्त्रिक शासन के अपने वादे को पूरा करने में यह भारतीय राज्य की विफलता को दिखाता है। निषाद अपने समुदाय को भारत के किसानों की तुलना में गलत व्यवहार के रूप में देखते हैं। निषाद समाज का मानना है कि उनके समुदाय के प्रति राज्य का असमान व्यवहार, 'सौतेली माँ' के दृष्टिकोण को दर्शाता है। आजादी के बाद भारतीय किसानों को राज्य ने पूरा सम्मान और अधिकार दिये, जिसके चलते भूमि और कृषि सुधारों में यादवों और जाटों जैसे प्रमुख किसान समूहों को लाभ हुआ परन्तु निषाद समुदाय के सदस्य बार-बार भारतीय राज्य के साथ उनकी तुलना 'सौतेले बच्चों के साथ सौतेली माँ के रिश्ते' से करते हैं। जब निषाद समुदाय के लोग 'सौतेली माँ' शब्द का उपयोग करते हैं, तो वे सुझाव दे रहे होते हैं कि मान्यता, पहचान और न्याय जैसी उनकी अपेक्षाएँ राज्य से पूरी नहीं हुई हैं। यह शब्द राज्य द्वारा दरकिनार किए जाने और उसके दौरान दुर्व्यवहार किए जाने की भावना को भी इंगित करता है, जो अपने अन्य पुत्रों का पक्ष लेती है जबकि दूसरे का नहीं। एक ओर ये समुदाय अपने लिए समान अवसर, आर्थिक विकास और कल्याण के अपने वादों को पूरा करने में विफल रहने के लिए राज्य की निन्दा करता है, जिसे वह समुदाय की आर्थिक सुरक्षा के लिए हानिकारक मानता है। दूसरी ओर, निषाद समाज राज्य को हस्तक्षेप करके नाविकों को सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार प्रदान करने और आरक्षण नीतियों को लागू करने के लिए कहता है, जिससे सामुदायिक चेतना और लामबन्दी को बढ़ावा मिले। लम्बे समय से आधिकारिक मान्यता के लिए संघर्ष इनका प्रमुख मुद्दा रहा है, जिसे पूरी तरह से तभी समझा जा सकता है जब रोजमर्रा की जिन्दगी की वास्तविकताओं को देखते हुए, जहाँ नागरिकता का राष्ट्रवादी विमर्श हाशिये पर, अशक्तता और हिंसा के वास्तविक अनुभवों से टकराता है। निषाद समुदाय का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य निषादों को अनुसूचित जाति का दर्जा दिलाना रहा है, जिसके माध्यम से यह समुदाय अपनी खोई हुई पहचान को पुन: प्राप्त करना चाहता है, क्योकि सामाजिक और आर्थिक रूप से वे दलितों की तरह हैं, इसलिये उन्हें इस अध्ययन में दलित माना गया है। 1980 में जब मंडल आयोग का निर्माण हुआ जिसके आधार पर अन्य पिछड़ा वर्ग को शैक्षिक संस्थानों और सरकारी क्षेत्र की नौकरियों में 27 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था की गई थी, परन्तु इस आरक्षण का फायदा सीमित जातियों को ही हुआ और निषाद/मल्लाह इस फायदे से बाहर हो गये। इसके अलावा उत्तर प्रदेश में निषाद समुदाय को अनुसूचित जाति में शामिल करने के लिए 2002 से निरनतर प्रयास

किए जाते रहे हैं, परन्तु कोई भी राजनीतिक दल और संगठन इन वादों को आज तक पूरा नहीं कर पाया है। 2016 में समाजवादी पार्टी की सरकार ने उत्तर प्रदेश की 17 अन्य पिछड़ी जातियों को अनुसूचित जाति घोषित कर दिया था, लेकिन यह फैसला इसलिये लागू नहीं किया गया क्योंकि मामला कोर्ट में चला गया और कोर्ट ने इस पर रोक लगा दी थी। यदि हम राज्य में देखे तो दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों को राजनीतिक रूप से लामबन्द करने के लिए उत्तर प्रदेश में कई प्रमुख राजनीतिक आन्दोलन हुए। हालांकि, पिछले अध्ययन (जैसे पाई और सिंह, 1997; मेहरोत्रा, 2022; नारायण, 2014) के आँकड़े संकेत प्रदान करते हैं कि शिक्षा में आरक्षण नीतियों का लाभ सभी निचली जाति के समूहों तक समान रूप से नहीं पहुँचा है, बल्कि इसका फायदा अनुसूचित जाति और अन्य पिछड़े वर्ग में असमान रूप से वितरित किया गया है।

एकलव्य राज और फूलन देवी के माध्यम से पहचान बनाना

पिछले कुछ वर्षों में उत्तर प्रदेश में एकलव्य निषाद की कहानी मल्लाहों की पहचान निर्माण में एक प्रमुख घटक बन कर उभरी है। बदरीनारायण के अनुसार निषादों के लिए एकलव्य की कहानी इस समुदाय द्वारा झेले गए ऐतिहासिक और समकालीन अन्याय को एक शक्तिशाली रूप में प्रदर्शित करती है, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि आर्थिक हाशिये पर जाति पूर्वाग्रह और वैचारिक वर्चस्व के व्यापक स्वरूप से यह कैसे सम्बन्धित है। यह कहानी हिन्दू महाकाव्य महाभारत की एक शाखा और अनिवार्य रूप से एक युवा राजकुमार के बारे में है, जिसे एकलव्य निषाद के नाम से जाना जाता है। एकलव्य की निम्न जाति की स्थिति के साथ ही उसके परिश्रम, बहादुरी और गुरु द्रोण के प्रति अडिग भक्ति गुणों ने इस कहानी को उसे पूरे भारत में निम्न-जाति और निषाद समूहों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया है। निषादों के लिए एकलव्य एक नायक है, जिसकी भक्ति और बलिदान को पूजा जाता है जो उसके साहस और संघर्ष को दर्शाता है।

1990 के दशक के अन्त में भारतीय राजनीति में फूलन देवी का प्रवेश ऐसे समय पर हुआ जब उत्तर प्रदेश में जातिगत लामबन्दी और चुनावी प्रतिस्पर्धा अपने चरम पर थी। भाजपा सरकार के पतन के साथ अन्य पिछड़ा वर्ग आधारित समाजवादी पार्टी और दलित आधारित बहुजन समाज पार्टी जैसे दल उभरे। इसके अलावा इन दोनों दलों के बीच नवगठित गठबन्धनों के उदय ने न केवल मल्लाहों के बीच जागरूकता को बढ़ाया बल्कि पहचान की राजनीति के दायरे में वे एक बार फिर पीछे छूट रहे थे। फूलन देवी स्वयं मल्लाह जाति से आती थीं, उन्होंने रोजमर्रा के जीवन में सामाजिक भेदभाव और असमानता को झेला था। फूलन देवी को एक ऐसी महिला के रूप में देखा जाता था जो अत्यधिक गरीबी, अशिक्षा तथा लिंग और जातिगत भेदभाव पर काबू पाने में सफल रही और दमन की इन संरचनाओं से प्रभावी ढंग से लड़ने के लिए समाज के दलित और वंचित वर्ग के कारणों ने उसे नायिका बना दिया था। इसी सामाजिक अन्याय को मल्लाहों ने अपनी दैनिक मुठभेड़ों में महसूस किया और अनुभव किया कि दोनों अपने श्रोताओं की भावनाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं और उन्हें जन्म देते हैं (डोरोन, 2010)।

जाति पत्रिकाओं की भूमिका

निषाद समुदाय पर हुए अत्याचारों और शोषण को दर्शाने के लिए तथा समाज और राज्य द्वारा अपनी पहचान और नागरिकता को प्राप्त करने के लिए निषाद संगठनों, जैसे - राष्ट्रीय निषाद संघ, निषाद कल्याण सभा और महाराजा निषादराज गुह्य स्मारक समिति द्वारा जाति पत्रिकाएँ भी निकाली जाती हैं जो निषादों के मुद्दों को जनता के सामने रखती हैं। निषाद ज्योति, निषाद जागरण और झेल पुत्र स्मारक इत्यादि निषाद समाज की जाति पत्रिकाएँ हैं। क्षेत्र सर्वेक्षण के दौरान गोरखपुर में कई निषादों का साक्षात्कार किया गया, जिसमें उन्होंने बताया कि पुराणों का ज्ञान रखने वाले ब्राह्मण मल्लाहों के बारे में इतिहास में घटी अच्छी कहानियों को छिपाने की कोशिश करते हैं, क्योंकि वे हमारा शोषण करते रहना चाहते हैं और हमारे साथ गन्दा व्यवहार करते हैं। इसके अलावा वे अपने प्रभुत्व को बनाये रखना चाहते हैं लेकिन अब सच्चाई सामने आ रही है। वास्तव में ये जाति पत्रिकाएँ समाज में इन समुदायों के लिए एक आवाज बनकर उभरी हैं, जिनके माध्यम से उच्च जाति की शक्ति के लिए खुली चुनौतियों का पता लगाया जा सकता है। इनमें निषादों के बारे में पारम्परिक ग्रंथों की पुनर्व्याख्या की जाती है। ये पत्रिकाएँ समुदाय के सदस्यों के लिए उनकी वर्तमान स्थिति के बारे में अपने डर को घटाने और उनकी लम्बे समय तक आवाज उठाने के लिए एक मंच के रूप में काम करती हैं।

निष्कर्ष

औपनिवेशिक काल तक मल्लाह या निषाद एक ऐसी पहचान प्राप्त कर रहे थे जो काफी हद तक औपनिवेशिक राज्य की धारणाओं और आवश्यकताओं से आकार लेती थीं। उन्हें काफी असमानता और अन्याय का सामना करना पड़ा, अंग्रेजों द्वारा उन्हें अपराधी घोषित कर दिया गया, जिसके चलते उनका अस्तित्व खतरे में पड़ गया तथा उनकी पहचान को हाशिये पर डाल दिया गया। इसके अतिरिक्त सामजिक व्यवस्था के साथ राज्य की व्यवस्था ने जातियों में भेदभाव को और प्रच्छन्न कर दिया। परिणामस्वरूप मल्लाह और कई सम्बन्धित जातियों और उपजातियों को औपनिवेशिक लेख में 'पिछड़े' के रूप में परिभाषित किया गया और अछूत जातियों के ठीक ऊपर रखा गया। स्वतन्त्रता के बाद राज्य द्वारा इन्हें नागरिकता तो प्राप्त हुई, परन्तु सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास की गति में यह आगे नहीं बढ़ पाए और पिछड़ गए। जिस गति से अन्य जातियों का विकास हुआ, ये उसे हासिल नहीं कर पाए। अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित होकर भारत में दलित विचारधारा का उदय हुआ जिससे कुछ अनुसूचित जातियों, जैसे - जाटव समुदायों का फायदा हुआ। वहीं दूसरी ओर 1980 में मंडल आयोग की रिपोर्ट के आधार पर अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई जिससे सीमित जातियों को ही इसका फायदा हुआ। फलस्वरूप यादव, कुर्मी और लोध जैसी अन्य जातियाँ पिछड़ गयीं, मल्लाह भी उन्ही जातियों में से एक हैं। सरकारी नौकरियों, शिक्षण संस्थानों और राजनीतिक सत्ता में निषादों की भागीदारी न के बराबर रही। उन्हें उम्मीद थी कि स्वतन्त्रता के बाद हमें सामाजिक न्याय मिलेगा और विकास में बराबरी का हक मिलेगा। इस भारतीय लोकतन्त्र

में किसान तो सुरक्षित हैं लेकिन हम नहीं। हम भी जल-किसान हैं लेकिन पीढ़ियों से चले आ रहे हमारे अधिकार भी छीन लिए गए हैं, जबकि समुदाय द्वारा अपनी संस्कृति, मूल्य और पहचान को बढ़ावा दिया गया है ताकि अपने गौरवशाली इतिहास के आधार पर अपना भविष्य गढ़ा जा सके। इस संघर्ष में एकलव्य से लेकर फूलन देवी जैसी हस्तियों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। इसके अलावा जाति आधारित लेखों के माध्यम से भी निषाद समुदाय अपनी आवाज लोगों के बीच रख रहा है और अपनी जाति की संख्या के महत्व को समझते हुए जाति आधारित राजनीतिक दलों और संगठनों का निर्माण किया जा रहा है, ताकि राजनीतिक क्षेत्र में अपनी हिस्सेदारी की माँग कर सकें और राज्य की सत्ता में हिस्सेदार बन सकें जहा वे हमेशा से वंचित रहे और अपने समुदाय के लिए मान्यता, प्रतिनिधित्व और सामाजिक न्याय को प्राप्त कर सके। इस जाँच की पृष्ठभूमि के माध्यम से पहचान, समावेश, सामाजिक न्याय, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और अधिकारिता का मुद्दा जो उत्तर प्रदेश में निषाद समुदाय की पीड़ा को उजागर करता है और एक ऐतिहासिक गलती की ओर इशारा करता है जो राज्य में निषादों को अनुसूचित जाति के रूप में मान्यता देने में विफल रही है। नागरिकता केवल अधिकारों का मामला नहीं है, यह दृष्टिकोण और मूल्यों का भी मामला है। इन मनोवृत्तियों को लोगों के दिल और दिमाग में स्थापित होने में समय लगता है। संविधान में नये अधिकारों को अंकित करने से आसान कुछ नहीं है, और दिल की आदतों को बदलने से ज्यादा मुश्किल कुछ भी नहीं।

नोट्स

1. जाति उपाधियाँ 'मल्लाह' और 'निषाद' का परस्पर उपयोग किया जाता है जैसा कि स्पष्ट होगा, 'निषाद' शब्द का नाविकों के लिए विशेष ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व भी है।
2. शेरिंग ने मनु के नियमों का हवाला देते हुए 'अवर जातियों की वंशावली' की पहचान करने का एक वैज्ञानिक तरीका प्रस्तावित किया, जिसमें दावा किया गया कि 'निषाद' एक ब्राह्मण पिता और शूद्र माता का पुत्र था, इसलिये मिश्रित रक्त श्रेणी (शेरिंग, xiii) मल्लाह जाति (विभिन्न उपजातियों) को एक ही स्रोत से उत्पन्न होने की पहचान करके, वह उन्हें एक समान पहचान प्रदान करता है।
3. अधिकांश पिछड़ी जातियों (MBC) को सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों के रूप में परिभाषित किया गया है, जो अन्य पिछड़ी जातियों (OBC) से कम और अनुसूचित जाति (SC) से ऊपर है।
4. यह हैंडबिल अस्साडोरन द्वारा लिखित पुस्तक कास्ट, ऑक्यूपेशन एंड पॉलिटिक्स ऑन द गंगा, पृ. 49 से लिया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

देसाई, एस. और दुबे, ए. (2012). कास्ट इन ट्वेन्टी फर्स्ट सेंचुरी इंडिया : कंपेटिंग नॉरेटिव इकोनामिक एंड पॉलीटिकल वीकली, 46(11), 40-49.

देशपांडे अश्विनी. (2000). डस कास्ट स्टील डिफाइंड स्पैरिटी? आ लुक इन क्वालिटी इन केरला, इंडिया द अमेरिकन इकोनामिक रिव्यू. 2000; 90(2) : 322-325.

देशपांडे, एस. (2012). कास्ट एंड कास्ट स्टेटस लेस्सनेस : टुवर्ड्स बायोग्राफी ऑफ द जनरल कैटेगरी. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 48(15), 32-39.

डोरोन, ए. (2008). कास्ट ऑक्यूपेशन एंड पॉलिटिक्स ऑन द गंगा : पस्सगेस ऑफ द रेजिस्टेंस रूटलेज और सीआरसी प्रेस.

डोरोन, ए. (2010). कास्ट अवे? सबाल्टर्न इंगेजमेंट विद द मॉडर्न इंडियन स्टेट। मॉडर्न एशियन स्टडीज, 44(04), 753-783.

डुमोंट लुइस. (1980) होमो हायरार्किकस : कास्ट सिस्टम एंड इट्स इंप्लीकेशन, शिकागो : शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस;

गेर्थ, हंस, मिल्स सी राइट। मैक्स वेबर. (1946). एस्से इन सोशियोलॉजी, न्यूयोर्क, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस;

गोली, एस., मौर्य, एन.के., और शर्मा, एम.के. (2015)। कंटिन्यूइंग कास्ट इन क्वालिटी इन रूरल उत्तर प्रदेश, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी एंड सोशल पॉलिसी, 35(3/4), 252-272।.

गुप्ता, डी. (2000)। कास्ट इन क्वेश्चन. सेज इंडिया.

गुप्ता, डी. (2005). कास्ट एंड पॉलिटिक्स : आइडेंटिटी ओवर सिस्टम। एनुअल रिव्यू ऑफ एंथ्रोपोलॉजी, 34(1), 409-427.

जस्सल, एस. टी. (2001). कास्ट इन द कॉलोनियल स्टेट मल्हा इन द सेन्सस, कंट्रीब्यूशन टो इंडियन सोशियोलॉजी, 35(3), 319-354.

जोधका, सुरिंदर एस. (2018). कास्ट इन कंटेम्परेरी इंडिया रूटलेज और सीआरसी प्रेस.

मंडल, बी., और फिल, एम. (2016)। प्रॉब्लम ऑफ कास्ट एंड आईडेंटिटी नामसुंदरस ऑफ़ कोलोनियल इंडिया इंटरनेशनल जर्नल ऑफ साइंस एंड रिसर्च (आईजेएसआर) इंडेक्स कॉपरनिकस वैल्यू, 7(9).

मल्होत्रा, एच. (2022)। हाउ डस कास्ट शेप वरना वल्नेरेबिलिटी तू वायलेंट क्राईम इन इंडिया, वर्किंग पेपर.

नारायण, बी. (2009) फेसिनेटिंग हिंदुत्व : सेफ्रॉन पॉलिटिक्स एंड दलित मोबिलाइजेशन न्यू दिल्ली सेज पब्लिकेशन.

नारायण, बी. (2014). द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिजर्वेशन कैटेगरी, उत्तर ,प्रदेशइकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 49(5), 18-20.

नारायण, बी. (2022)। यूपी में बंटा जातीय वोट. द वीक वेबसाइट से लिया गया : https://www.theweek.in/theweek/cover/2022/03/11/the-divided-caste-vote-in-up-by-Badri-नारायण.html

पाई, एस. और सिंह, जे. (1997)। पॉलिटिसाइजेशन ऑफ दलित एंड द मोस्ट बैकवर्ड कास्ट स्टडी ओं सोशल कॉन्फिडेंस पॉलीटिकल प्रेफरेन्सेस फॉर विलेजस ऑफ मेरठ डिस्ट्रिक्ट, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 32(23), 1356-1361.

रावल, वी. (2008) ओनरशिप होल्डिंग : ऑफ लैंड इन रूरल इंडिया पुट इन द रिकॉर्ड स्ट्रेट, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 43(10), 43-47.

सिंह, जगपाल. (2021). कास्ट स्टेट एंड सोसाइटी : डिग्री ऑफ डेमोक्रेसी इन नॉर्थ इंडिया. रूटलेज प्रेस.

शंकरन, एस., सेकरडेज, एम., और हेकर, यू. वॉन. (2017). द रोल ऑफ इंडियन कास्ट एंटिटी एंड कास्ट आइडेंटिटी इन्कन्सीस्टेन्ट नॉर्म्स ऑन स्टेटस रिप्रेजेंटेशन, फ्रंटियर्स.

टेलर, सी. और गुटमैन, ए. (1994) मल्टीकल्चरलिज्म : एक्समिन्ग द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिकग्निशन, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.

थोराट, एस., और न्यूमैन, के.एस. (2009)। कास्ट इन इकोनॉमिक्स डिस्क्रिमिनेशन : कॉसेस कंसीक्वेंसेस एंड रेमेडीज, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 7-8.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 2, दिसम्बर 2022, पृ. 49-65)

गौ रक्षा और गौ सेवा की तीखी बहस : गाँधी के आईने से

कोमल*

हाल के वर्षों में गौ रक्षा एवं गौ सेवा का मुद्दा पुन: जोर पकड़ने लगा है। प्रस्तुत आलेख में गाँधी और गौ रक्षा से जुड़े कुछ ऐसे दावों की सच्चाई तलाशने का प्रयास करता है, जैसे क्या वास्तव में संविधान के अनुच्छेद 48 को गाँधी के आग्रह पर सम्मिलित किया गया था था? क्या गाँधी का गौ विमर्श हिन्दुत्व की पहचान से जुड़ा हुआ था? अथवा क्या हिन्दू और मुस्लिमों के सम्बन्धों को भी पुनर्परिभाषित करने का एक प्रयास था? प्रश्न यह उठता है कि क्या गौ रक्षा का गाँधी विमर्श गाँधी के लिए स्वीकार्य था। इन सभी मिथकों को दूर करने में गाँधी के कथन, दावे, पत्राचार और भाषण सहयोगी होंगे।

भूमिका

गाँधी के विचारों को लेकर कई तरह की अटकलों का बाजार हमेशा गर्म रहा है। अमूमन सरकारें अपने राजनीतिक निर्णयों और उद्देश्यों को गाँधी का बताकर सुर्खियाँ भी बटोर लेती हैं। परन्तु इन दावों और अटकलों में कितनी सच्चाई, गम्भीरता और तथ्य छुपे हैं, इस पर बहसें अक्सर कम ही दिखाई पड़ती हैं। हाल के वर्षों में गौ रक्षा का मुद्दा भी पुन: जोर

*पीएच.डी. शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.
E-mail: ramjaskomal@gmail.com

पकड़ने लगा है। इस विषय को राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्त में दर्ज अनुच्छेद 48 को भी आमतौर पर गाँधीवादी मूल्यों की श्रेणी में रखा गया है। लेख गाँधी और गौ रक्षा से जुड़े कुछ ऐसे ही दावों की सच्चाई तलाशने का प्रयास करता है, जैसे - क्या वास्तव में संविधान के अनुच्छेद 48 को शामिल करना गाँधी के आग्रह पर किया गया था? क्या गाँधी गौ-विमर्श हिन्दुओं की पहचान से जुड़ा हुआ था? अथवा क्या यह हिन्दू और मुस्लिमों के सम्बन्धों को भी पुनर्परिभाषित करने का एक प्रयास था? इससे यह भी प्रश्न उठता है कि क्या गौ रक्षा का मौजूदा विमर्श गाँधी के लिए स्वीकार्य था। इन सभी मिथकों को दूर करने में गाँधी के कथन, दावों, पत्राचार और भाषण सहयोगी सिद्ध होंगे। मिथकों की शिनाख्त के दौरान शासन, प्रशासन और राष्ट्रवादी आन्दोलन व्यवस्था में अधिकारों, सामाजिक समरसता और गाँधीवादी उपायों के सम्भाव्य मार्गों की गम्भीर जाँच की जायेगी। इससे गौ रक्षा सम्बन्धी विचारों को गाँधी के दौर में और आज के सन्दर्भ में पुनर्स्थापित कर समझने में मदद मिल सकेगी।

लेख में गौ सेवा के अनूठे अर्थ के साथ-साथ मुस्लिमों और गौ सेवा के बीच तारतम्य बैठाने वाले रोचक सुझावों पर चर्चा होगी। गौ रक्षा से गौ सेवा के विमर्श का सफर धार्मिकता और सामाजिकता से निकल कर किन परिस्थितियों में राजनीतिक होने लगा इस पर भी विस्तार से चर्चा करना अनिवार्य होगा। इस जाँच-परख के दौरान कई जगहों पर गाँधी के विचारों में मौजूद मतैक्यों की भी बारीकी से जाँच की जायेगी। यहाँ मैं यह भी साफ कर दूँ कि लेख गाँधी पर कोई अन्तिम राय पेश नहीं करता, बल्कि गाँधी के विश्लेषण में नयी सम्भावनाओं के अवसरों को तलाशता है, साथ ही इस विमर्श के वर्तमान समय में व्यवहार्यता और सम्भाव्य समाधान के अवलोकन को भी तय करता है।

गाँधी के लिए 'गाय'

गौ रक्षा से पूर्व गाँधी के नजरिये में गाय के मायनों को समझना महत्वपूर्ण है। वास्तव में गाँधी की नजर में गाय की कोई एक सटीक परिभाषा शब्दों में दिखाई नहीं पड़ती। गाँधी ने गाय के अर्थ को समझाने के लिए उपमाओं और अलंकारों का ही प्रयोग किया है। इसीलिये लेखों और भाषणों में भी गाँधी गाय को उपमानवीय वैश्विक स्वरूप की संज्ञा देते हैं।[1] गाँधी के नजरिये में गाय और मनुष्य के जीवन में तुलना नहीं की जा सकती, न ही जीवन के मूल्य से इसे आँका जा सकता है। जीवन की समानता के इस सिद्धान्त का उल्लेख 1920 के दौरान लिखे एक पत्र से भी जाहिर होता है, जहाँ गाँधी ने लिखा है - 'पशु जीवन किसी भी रूप में मनुष्य जीवन से निम्न नहीं है'[2]। इस के माध्यम से गाँधी मनुष्य तथा अन्य जीवों के बीच बरसों से चली आ रही जीवन की पदसोपानीयता को चुनौती देते हैं। हालाँकि गाँधी यह पदसोपानीय व्यवहार सभी पशुओं के लिए नहीं, बल्कि धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से महत्वपूर्ण पशुओं, विशेष रूप से गाय के सन्दर्भ में प्रयोग करते हैं।

इसका एक ओर दिलचस्प पहलू यह भी है कि अन्य पशुओं में बेहतर और मनुष्य का उपमानवीय स्वरूप होने के बावजूद भी गाँधी ने 1925 में बॉम्बे में हुई भारतीय गौ रक्षा कॉन्फ्रेंस

में कहा कि 'गाय पूरी तरह से हमारी करुणा पर निर्भर है'[3]। इसके साथ ही गाँधी मनुष्य के लिए गौ दायित्वों को तय करते हैं। इसे अधिक नैतिक बनाने के लिए गाँधी गौ रक्षा की उपमा विश्व के बेसहारा और कमजोर लोगों की मदद के समान ही मानते हैं।[4] स्पष्ट तौर पर गाँधी सभी समुदायों और धर्मों से गायों के प्रति नरमी भरा स्वभाव रखने की उम्मीद रखते हैं।

ऐसा नहीं है कि गाँधी से पूर्व गौ विमर्श का अभाव था। दरअसल दयानन्द सरस्वती 'गौ करुणानिधि' और 'सत्यार्थ प्रकाश' के जरिये और बाल गंगाधर तिलक अपने सम्बोधनों में गौ विमर्श मुद्दे के जरिये हिन्दुओं को एकजुट करने में लगे थे। यह वो दौर था जब हिन्दू समाज में विखंडन तेजी से बढ़ रहा था।[5] इस आरम्भिक दौर में गाय को सांस्कृतिक और हिन्दू एकता के प्रतीक रूप में स्थापित किया गया। यह लामबन्दी केवल हिन्दुओं तक सीमित रही।

इससे हिन्दू एकता में कुछ तेजी देखी गयी, परन्तु इसने हिन्दुओं में स्वयं और अन्य अर्थात् मुस्लिम के बीच अन्तर को और गहरा कर दिया।[6] इन गौ रक्षा अभियानों ने हिन्दुओं का ध्यान तो आकर्षित किया, लेकिन सामाजिक सौहार्द्र पर नकारात्मक प्रभाव भी डाला। गाँधी ने गौ रक्षा से हिन्दू-मुस्लिमों के बीच बढ़ती कटुता को मधुर सम्बन्धों में बदलने की पहल की।

गौ रक्षा से गौ सेवा तक का सफर

गाँधी के गौ विमर्श को विकास के तीन चरणों में समझा जा सकता है। लेख समयावधि के अनुसार नहीं, बल्कि विचारों में समानता, नयी समझ और शब्दावली के अनुरूप रखा गया है। पहले चरण में मानव केन्द्रित समझ से शुरूआत करते हुए गाँधी ने किसी भी बाहरी परिवर्तन अथवा दबाव से अधिक आन्तरिक समझ और आत्म ज्ञान को महत्व दिया। गौ विमर्श के प्रथम चरण में गाँधी व्यक्तिगत तौर पर हिन्दुओं को अपने व्यवहार और कार्यों पर आत्मचिन्तन करने का आग्रह करते हैं, जबकि दूसरे चरण में गाँधी एक सकारात्मक सोच के जरिये हिन्दुओं को मुस्लिमों के साथ अपने व्यवहार और सम्बन्धों को सुधारने के लिए गम्भीरता से सोचने के लिए प्रेरित करते हैं। गाँधी हिन्दुओं को मुस्लिमों का हृदय परिवर्तन करके गौ दायित्व में बाँधने हेतु कहते हैं। इस प्रकार गाँधी हिन्दुओं को मुस्लिमों के प्रति दुर्भावना का त्याग कर आपसी सहयोग बढ़ाने पर बल देते हैं।[7] तीसरा चरण गाँधी की उस उन्नत सोच का परिणाम था, जहाँ राज्य सामुदायिक भागीदारी के माध्यम से गौ-सेवा के तार्किक, वैज्ञानिक एवं रचनात्मक आर्थिक योजनाओं के विचार पर जोर देता है।

लेख के अन्तिम भाग में गाँधी के गौ विमर्श पर उनके समकालीन के विचारों पर चर्चा होगी और यह भी जाना जाएगा कि किन वजहों से गाँधी के विचारों का खंडन किया जा रहा था। बहरहाल, आज के समय में गाँधी के समाधान कितने ग्राह्य और प्रभावी हो सकते हैं यह भी विमर्श योग्य है। यह गाँधी के विचारों की सम्भावनाओं को तलाशने का प्रयास है।

पहला चरण : स्वयं शुद्धिकरण और तपश्चर्या

गाँधी द्वारा गौ रक्षा पर चर्चा अचानक आरम्भ नहीं हुई। दक्षिण अफ्रीका में गाँधी के प्रवास के दौरान और भारत वापसी के समय से ही भारत में आये दिन गौ रक्षा के सम्बन्ध में

हिंसा की खबरें आम हो रही थीं। हालाँकि गाँधी पहले भी इन घटनाओं को लेकर लिखते रहे थे, परन्तु 1912 में अयोध्या के फैजाबाद में, 1916 में पटना तथा 1918 में गया और शाशाबाद में गौ रक्षा की घटनाओं को लेकर हिन्दू और मुस्लिमों के बीच साम्प्रदायिक तनाव में वृद्धि हुई।[8] गाँधी हिन्दुओं और मुस्लिमों के बीच फैली आपसी कुंठा को हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए सबसे बड़ी चुनौती के रूप में देख रहे थे।

इस तनावपूर्ण स्थिति से निजात पाने के लिए गाँधी गौ हिंसा के लिए मुस्लिमों के अपराधी ठहराये जाने के सवाल को छोड़कर, हिन्दुओं को अपने कृत्यों पर पुनर्विचार और आत्ममन्थन करने के लिए कहते हैं। गाँधी का आत्ममन्थन को लेकर यह आग्रह हिन्दुओं को अपनी पाक-साफ छवि को पुन: टटोलने के लिए प्रेरित प्रयास था। असल में ऐसा करते हुए गाँधी गौ रक्षा के सवाल को हिन्दुओं की अहिंसात्मक छवि को दूसरे नजरिये से विश्लेषण करने का परामर्श देते हैं।

हालाँकि हिन्दुओं को आत्मचिन्तन के लिए प्रेरित करना गाँधी के लिए आसान लक्ष्य नहीं था। गाँधी इस आत्मचिन्तन को पहेलीनुमा सवालों के रूप में सामने रखते थे, जैसे - क्या गौ हत्या के लिए केवल मुस्लिमों को दोषी माना जा सकता है?[9] हिन्दुओं द्वारा मुस्लिमों के प्रति हिंसा, द्वेष, दुर्व्यवहार का भाव क्यों रखा जाता है? अगर मुस्लिमों के प्रति हिन्दुओं की नाराजगी और दुर्व्यवहार गौ हिंसा के कारण है, तो हिन्दू अंग्रेजों द्वारा मारी जाने वाली गायों के प्रति मौन धारण क्यों करते हैं।[10] दूसरा, गाँधी हिन्दू की गाय को लेकर हिन्दुओं की साफ नियत को दोगला बताते हैं, क्योंकि हिन्दू मुस्लिमों को स्वयं से कमजोर और अपना शत्रु समझते हैं, इसलिये केवल मुस्लिम इसके आरोपी बनाये जाते रहे हैं। गाँधी ने आरोपों के इस बोझ को मुस्लिमों के सिर हटा कर हिन्दुओं को सोचने पर मजबूर कर दिया। हिन्दुओं और मुस्लिमों के बीच के इन सम्बन्धों को प्रश्नों और पहेलियों के अतिरिक्त गाँधी कुछ चिन्ताएँ भी जाहिर करते हैं, मसलन मुस्लिमों के प्रति हिन्दुओं की इस दुर्भावना को आखिरकार किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

यहाँ गाँधी द्वारा सवालों को इतनी सहजता और प्रखरता से उठाया जाना अद्‌भुत है। इसमें दिलचस्प यह था कि गाँधी ने इन सवालों और चिन्ताओं को साम्प्रदायिक जुड़ाव[11] की नीयत से उठाया था। असल में गाँधी परम्परागत पूर्वमान्यताओं को दूर कर हिन्दू और मुस्लिमों को एक समान स्तर पर गौ-विमर्श के लिए कहते हैं। यहाँ गाँधी का मकसद केवल सवाल उठाना नहीं था, बल्कि वे स्वयं हिन्दुओं को इनके उत्तर खोजने में मदद भी करते हैं।

गाँधी के अनुसार इन दुविधाओं का उत्तर बाहरी दुनिया में नहीं, बल्कि हिन्दुओं के अन्तर्मन में ही छिपा हुआ है। इसके लिए गाँधी स्वनियन्त्रण को सर्वोत्तम उपाय मानते हैं। स्वनियन्त्रण की प्रक्रिया के लिए गाँधी ने तपश्चर्या[12] शब्द का प्रयोग किया है। तपश्चर्या का अर्थ है, स्वयं को पाप मुक्त रखते हुए दूसरों से पाप न करने की प्रार्थना करना। यह कुछ-कुछ तपस्वियों-सा सहज भाव धारण कर लेने के बारे में था, जिसमें व्यक्ति को अपने क्रोधपूर्ण और हिंसात्मक स्वभाव को नियन्त्रित करने पर जोर दिया जाता है। ऐसा इसलिये क्योंकि गाँधी के

लिए सब से बड़ा पाप अनाचार और हिंसा ही है, भले ही मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किया गया हो अथवा मनुष्य द्वारा जीवों पर।[13] दरअसल गाँधी गौ हिंसा को हिन्दू-मुस्लिम हिंसा का आईना दिखाते हैं।

दरअसल, हिन्दू गौ हिंसा के लिए केवल मुस्लिमों को जिम्मेदार मान रहे थे, जो सामाजिक और राजनीतिक स्वास्थ्य के लिए उचित नहीं था। यह विमर्श हिंसा की वास्तविकता को परत-दर-परत खोल कर हिन्दू और मुस्लिमों को जोड़ने के उद्देश्य से भी महत्वपूर्ण रहा है। यह हिंसा की वह बारीक समझ थी, जिसे हिन्दू रोज नजर-अन्दाज कर रहे थे। गाँधी चाहते थे कि लोग इस हिंसा की उपस्थिति के एहसास को भी स्वीकारें और उसे दूर करें।[14] इसी का परिणाम था कि गायों के प्रति हिंसा का दोष मुस्लिमों पर थोपने वाले हिन्दुओं से गाँधी यह प्रश्न पूछते हैं कि क्या गायों की वर्तमान दयनीय और जर्जर स्थिति के लिए हिन्दू कतई जिम्मेदार नहीं हैं?[15] गाँधी हिन्दुओं द्वारा गायों के प्रति किये जा रहे अनाचारों, जैसे - गायों को उचित आहार मुहैया न कराना, गौवंश से अधिक से अधिक काम लेना और उनके प्रति बर्बरतापूर्ण व्यवहार को भी हिंसात्मक मानते हैं। दैनिक रूप से किये जाने वाले इस दुर्व्यवहार का सीधा असर गौ वंश के स्वास्थ्य पर देखा जा सकता है। गौ वंश के साथ इस प्रकार का व्यवहार गाँधी के लिए गौ वध से भी अधिक निन्दनीय है, जबकि हिन्दू केवल मुस्लिमों को दोषी मानते हैं। हिंसा के इस गूढ़ अर्थ का अनुभव आत्म मनन, हिंसा की वास्तविकताओं का ज्ञान और स्वयं के कार्यों के अवलोकन के जरिये हो सकता है। इस सूक्ष्म ज्ञान के अभाव में स्थिति में परिवर्तन या साम्प्रदायिक शान्ति को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता।

यह अनुभव मुस्लिमों के विरुद्ध बनाये जा रहे हिंसा के आधार को चुनौती दे रहा था। गाँधी की यह पहल गौ रक्षा के नाम पर हिन्दू-मुस्लिम हिंसा की कड़वाहट के बीच पहली बार सकारात्मक ऊर्जा का प्रवाह करते हुए सम्बन्धों को पुनः जोड़ने की पहल कर रही थी।

यह गौ रक्षिणी सभाओं द्वारा किये जा रहे हिंसात्मक कार्यों को समर्थन करने वाले विचार को भी चुनौती दे रहा था।

दूसरा चरण : धार्मिक एकता और राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच गौ विमर्श

दो संघर्षशील धार्मिक समुदायों को एकजुट कर राष्ट्रीय एकता में पिरोना किसी भी राजनीतिक नेतृत्व के लिए बेहद चुनौतीपूर्ण है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। राष्ट्रीय नेतृत्व द्वारा राष्ट्रीय लामबन्दी अक्सर दो स्तर पर देखी जा सकती है, जिसका जिक्र ए.आर. देसाई[16] ने किया है। एक ओर सूक्ष्म स्तर की लामबन्दी में धार्मिक मुद्दों की अहम् भूमिका रही, वहीं दूसरी ओर वृहद् स्तर की लामबन्दी के लिए राष्ट्रीय मुद्दों को स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ जोड़ा जाने लगा। धार्मिक संचेतना से निकले मुद्दों ने राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व के बीच एक सेतु की तरह काम किया। ए.आर. देसाई ने इसका जिक्र करते हुए कहा कि धर्म सुधार आन्दोलन में राष्ट्र अन्तर्निहित है, पर उनकी प्रकृति धार्मिक है, अर्थात् धर्म सुधार आन्दोलन के केन्द्र में तो राष्ट्र व्याप्त है लेकिन यह धर्म के जरिये राष्ट्र की परिकल्पना में योगदान देते

हैं। देसाई के शब्दों में साफ तौर पर सूक्ष्म और वृहद् राजनीति का समावेश देखने को मिलता है। इस समावेश में राष्ट्रीय लामबन्दी बेहद अहम् भूमिका निभाती है। धर्म के विषयों की राष्ट्रीय लामबन्दी में न्यूनतम तीन तत्वों का सहयोग देखा गया है - 1. नेतृत्व, 2. मुद्दा, तथा 3. चिह्नों और पहचानों का होना।

लामबन्दी और जन समर्थन में नेतृत्व की भूमिका मुख्य होती है, जिसमें नेतृत्व के विचारों और करिश्माई व्यक्तित्व के लोगों से आम जनता स्वयं को जोड़ने का प्रयास करती है। साथ ही लोग उस करिश्माई नेतृत्व द्वारा उठाये गये विशेष मुद्दों पर एकजुट होने का भी प्रयास करते हैं। इसके अतिरिक्त लोगों की व्यक्तिगत पहचान के अलावा एक सामूहिक पहचान का भी निर्माण किया जाता है। यह किस प्रकार सम्भव हो पाता है, इसका जिक्र पारेल[17] के विवरण में देखने को मिलता है। पारेल के अनुसार चिह्न मुख्य रूप से दो तरह का काम करते हैं। पहला, चिह्न मूल्यों, भावनाओं और विश्वासों को किसी भौतिक वस्तु के साथ जोड़ने में सहायक होते हैं और दूसरा इन चिह्नों और पहचान के जरिये सामूहिक लामबन्दी को एकजुट करने का भी प्रयास किया जाता है। गाँधी अपनी सामाजिक और राष्ट्रीय नेतृत्व की जिम्मेदारियों से भली-भाँति अवगत थे। इसी के परिणामस्वरूप गाँधी यह जानते थे कि मुस्लिमों के सहयोग के बिना न तो सामाजिक एकता और न ही राजनीतिक एकता को स्थापित किया जा सकता है। इसी राजनीतिक और सामाजिक शान्ति के लिए गाँधी ने धार्मिक विभिन्नताओं के बीच शान्ति स्थापित करने के प्रयोगों को राजनीति में भी अपनाया।

खिलाफत आन्दोलन इसका एक बड़ा उदाहरण है। यह आन्दोलन गाँधी की सामाजिक और राजनीतिक छवि वाले दोहरे नेतृत्व के संयोजन को दर्शाता है। खिलाफत आन्दोलन के समय गाँधी ने अलग-अलग सार्वजनिक सभाओं के दौरान हिन्दुओं से मुस्लिमों की नि:स्वार्थ भाव से मदद करने का लगातार आग्रह किया। यह आग्रह मौखिक के अलावा यंग इंडिया जैसी पत्रिकाओं में लिखित रूप में भी साफ दिखाई देता है। गाँधी के अनुसार 'हिन्दुओं को खिलाफत में मुस्लिमों का सहयोग गाय के मुद्दे का जिक्र किये बिना ही करना चाहिए'[18]। मुस्लिमों के लिए संकट के इस समय को गाँधी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के अवसर में बदलने की कोशिश की, ताकि दो विरोधियों के बीच सहयोग स्थापित किया जा सके। साथ ही गाँधी यह भी नहीं चाहते थे कि हिन्दू इस सहयोग के बदले मुस्लिमों से गौ रक्षा की उम्मीद रखें। हालाँकि यह बड़ा सवाल था कि क्या गाँधी स्वयं को भी इस उम्मीद से मुक्त रख पाते हैं? इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

इस सहयोग की उम्मीद केवल आन्दोलनों तक ही सीमित नहीं थी। गाँधी स्वराज की परिकल्पना में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल देते थे। इस सामाजिक और धार्मिक सहयोग के जरिये ही गाँधी राजनीतिक उद्देश्यों को भी प्राप्त करना चाहते थे। गाँधी के अनुसार दोनों समुदाय तभी स्वराज प्राप्त कर सकेंगे, जब दोनों समुदाय मिलकर खिलाफत और गाय को बचा सकेंगे।[19] स्वराज की इस परिकल्पना में गाँधी के लिए धार्मिक विवादों को सुलझा लेना अनिवार्य था। यह तभी सम्भव था जब हिन्दू मुस्लिमों के प्रति सम्मान और आदर का भाव रखें।

यह सहिष्णुता और सहयोग के माध्यम से ही सुनिश्चित किया जा सकता था, जब हिन्दू और मुस्लिम स्वयं को अलग या आपस में एक दूसरे के विपरीत न समझें। साथ ही एक दूसरे की विभिन्नताओं को स्वीकारें और मुस्लिमों को सम्मान और महत्व दें। यह गाँधी ने भारतीय संस्कृति पर इन्दौर में दिये अपने एक सम्बोधन में भी कहा कि हिन्दू मुस्लिमों को प्रेम[20] और सत्य के सहारे जीते।

तपश्चर्या के बाद गाँधी ने समाज के भीतर साम्प्रदायिक हिंसा को दूर करने के विचारों पर सोचना शुरू किया। इस शत्रुतापूर्ण व्यवहार को दूर करने के लिए गाँधी ने तीन उपायों पर चर्चा की - पहला, गौ रक्षिणी सभाओं द्वारा की जाने वाली हिंसा की आलोचना। दूसरा, मुस्लिमों का सहयोग और उनके प्रति सम्मानजनक व्यवहार। तीसरा, समता और सर्वसम्मति का भाव रखते हुए मुस्लिमों को अपने निर्णयों में शामिल करना।

तीनों तरह के उपायों को राजनीति के लिए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के माहौल को स्थापित करने के लिए सुझाया गया था। तनाव की स्थिति को दूर करने के लिए गाँधी के ये उपाय विश्वास निर्माण कारकों पर आधारित थे। हिन्दू और मुस्लिमों के बीच विश्वास का होना क्यों जरूरी है, इस पर 1910 के दौरान कलकत्ता में गौ हिंसा विवाद के कारण उत्पन्न दंगों की स्थिति पर इंडियन ओपिनियन में गाँधी ने अपनी प्रतिक्रिया दर्ज की। जहाँ गाँधी ने हिन्दू और मुस्लिमों द्वारा एक दूसरे पर नजर बनाये[21] रखने को दंगों की वजह माना और यह कहा कि यह तनाव पूर्णत: आपसी अविश्वास का ही परिणाम था। यही अविश्वास बिना विचार आपसी शंका का रूप धारण कर लेता है। इन हिंसक घटनाओं में सबसे प्रबल भूमिका गौ रक्षिणी सभाओं की रही। गौ रक्षिणी सभाओं पर गौ रक्षा के प्रति अन्धविश्वास और हिंसा पर हिन्दुओं के मौन की गाँधी ने तीखी आलोचना की है।

गौ रक्षिणी सभाओं द्वारा हिंसा पर कड़ी प्रतिक्रिया में गाँधी ने कहा कि गौ रक्षिणी सभाओं को वास्तव में गौ हत्या सभाएँ[22] कहा जाना चाहिए। यह गौर करने लायक था कि गाँधी ने इन सभाओं को मुस्लिम हिंसा सभाएँ नहीं, बल्कि गौ हत्या सभा कहा था, जबकि गाँधी द्वारा इन सभाओं की आलोचना करने की मुख्य वजह मुस्लिमों के साथ की जाने वाली हिंसा थी। गाँधी द्वारा गौ हत्या सभाएँ कहने के पीछे की वजह गया में एक सार्वजानिक सभा में दिये भाषण में दिखती है, जिसमें गाँधी ने कहा कि हिन्दुओं का मुस्लिमों के प्रति शत्रुतापूर्ण,[23] घृणापूर्व और नकारात्मक व्यवहार ही वास्तव में गौकशी के लिए जिम्मेदार है। यदि हिन्दू और मुस्लिमों के बीच प्रेमपूर्ण सम्बन्ध होंगे तो निश्चित रूप से सम्बन्धों में ही सुधार होगा जिससे गौकशी को घटनाओं में भी कमी आएगी। गाँधी की समझ में मुस्लिमों पर हिंसा या गौ रक्षण को थोपा नहीं जाना चाहिए।

हालाँकि गौ रक्षिणी सभाओं की गाँधी ने शुरूआत में तो तीखी आलोचना की, परन्तु बाद में गौ रक्षिणी सभाओं के कार्यक्रमों में गाँधी का शामिल होना दर्शाता है कि गाँधी को केवल गौ रक्षिणी सभाओं के कार्य करने के तरीकों और हिंसात्मक शैली से ही आपत्ति थी। गाँधी के नजरिये में गौ रक्षा के यह तरीके न तो स्वीकार्य और ग्राह्य थे न ही नैतिक थे। यही

वजह रही कि गौ रक्षिणी सभाएँ लोगों का ध्यान और सहानुभूति[24] जुटा पाने में असमर्थ रहीं। ऐसा इसलिये, क्योंकि इन गौ रक्षा संगठनों के उद्देश्य और विचारों का फैलाव बेहद सीमित रहा और यह अधिक लोगों को अपने विचारों से लामबन्द करने में असफल रहे। यही कारण रहा कि 1917 में गाँधी द्वारा बेतिया[25] में दिये एक भाषण में गौ रक्षिणी सभा द्वारा गौ शाला स्थापित किये जाने की तो प्रशंसा करते हैं, परन्तु इन सभाओं द्वारा की जाने वाली हिंसा की आलोचना करते हैं।

अनेक अस्पष्टताओं के बावजूद भी यह स्पष्ट था कि गाँधी गौ रक्षा को हिन्दुओं तक सीमित नहीं रखना चाहते थे, बल्कि अन्य धर्मों के बीच भी असीमित रूप में आगे बढ़ाना चाहते थे। गाँधी का उद्देश्य जनसामान्य के बीच गौ रक्षा के अहिंसावादी विचार को स्थापित करना था। गौ रक्षा की इस पहल से जुड़ने के लिए गाँधी ने मुस्लिमों को भी प्रेरित किया।

गाँधी के बारे में जानने योग्य यह भी है कि गाँधी धर्म के नाम पर किये जाने वाले सभी कार्यों को धर्म नहीं मानते थे। इसी वजह से गौ रक्षिणी सभाओं के हिंसात्मक कार्यों को गाँधी धर्म के नाम पर किया जाने वाला अधर्म[26] कहते हैं। ऐसी स्थिति में गाँधी के लिए धर्म के तार्किक पक्ष की व्याख्या को समझना और समझाना दोनों महत्वपूर्ण हैं। इसी के फलस्वरूप गाँधी धर्म और धर्म की व्यावहारिकता पर समय-समय पर नयी और अधिक प्रगतिशील परिभाषाओं को गढ़ते हैं, जिससे धर्म को तार्किकता और तार्किकता को धर्म का आधार बनाया जा सके। हालाँकि ऐसा करते हुए भी गाँधी धर्म को पूर्णत: अलग-थलग नहीं करते हैं। गौ रक्षिणी सभाओं की आलोचना के बाद गाँधी ने इस बात को भी सुनिश्चित किया कि गौ रक्षा का अर्थ केवल गाय को बचाने से नहीं, बल्कि गौवंश[27] को नैतिक साधनों के जरिये बचाया जाना महत्वपूर्ण था। यह मुख्य रूप से मानवता और सहनागरिकों के साथ नैतिक व्यवहार स्थापित करने पर आधारित था।

इस सम्मान और महत्त्व की पहली शर्त यह है कि हिन्दुओं द्वारा मुस्लिमों को किसी भी निर्णय को मानने के लिए दबाव न बनाया जाये और न ही अपने अहम् निर्णय के दौरान मुस्लिमों को बाहर रखा जाये। गाँधी गौ रक्षा के लिए ऐसे किसी भी कानून को बनाये जाने के खिलाफ रहे, जो मुस्लिमों पर बाध्यकारी[28] हो। बाद के दौर में भी गौ हत्या विरोधी कानूनों पर अपनी स्थिति साफ करते हुए गाँधी ने कहा कि कानूनों का निर्माण केवल 'बुद्धि बहुमत'[29] सहमति पर ही आधारित होने चाहिए। जिसका अर्थ था कि गौ हत्या विरोधी कानूनों का निर्माण मुस्लिम समुदाय और अन्य समुदायों की तार्किक सहमति से होना चाहिए। दूसरा, इन कानूनों के निर्माण में सहमति के साथ-साथ बड़ी संख्या में सहयोग और विशेष बहुमत का समावेश होना अनिवार्य है, ताकि इन कानूनों को ग्राह्य भी बनाया जा सके।

इसी आधार पर गाँधी मैसूर में बने गौ हत्या विरोधी कानूनों का समर्थन करते हैं, क्योंकि मैसूर में गौ रक्षा कानून मुस्लिम और ईसाई धर्म के लोगों की सहमति[30] और पहल पर बनाया गया था। हालाँकि 1946 के दौर में 'हरिजन' पत्रिका में गाँधी ने यह लिखा कि गौ हत्या को केवल कानून के जरिये नहीं रोका जा सकता, बल्कि गौ हत्या को रोकने के लिए ज्ञान,

शिक्षा और दया का भाव होना भी आवश्यक[31] है। यह वह समय था, जब संविधान सभा पर गौ-हत्या विरोधी कानून बनाये जाने के लिए खासा दबाव था और हिन्दू-मुस्लिम तनाव विभाजन के कारण अपने चरम पर था।

तीसरा चरण : गौ सेवा से गौ संरक्षण तक का सफर

गाँधी के विचारों में बड़ा परिवर्तन 1925 के पश्चात् देखने को मिलता है। यह वर्ष धर्म की नयी परिभाषाओं के साथ-साथ गाँधी का गौ सेवा के प्रति बढ़ते झुकाव को भी दिखाता है। 'नवजीवन' के लेखों से भी प्रमाणित होता है कि गाँधी ने गौ रक्षा को 'पवित्र कर्तव्य'[32] की संज्ञा दी, जिससे गाँधी के विचारों में धार्मिकता और नैतिकता का पक्ष और सुदृढ़ हो गया।

गौ सेवा : इसी क्रम में नया बदलाव 1928 के समय में प्रकाश में आता है। इस वर्ष गाँधी ने गौ रक्षा के स्थान पर 'गौ सेवा' शब्द को प्रयोग करना शुरू कर दिया था। गौ सेवा शब्द का प्रयोग किये जाने के बारे में अचानक ही एक चर्चा के दौरान सोचा गया। यह प्रस्ताव गाँधी के मित्र जमनालाल बजाज द्वारा 'आल इंडिया काऊ प्रोटेक्शन एसोसिएशन' की एक बैठक के दौरान दिया गया था। दरअसल, गौ रक्षा के विचार को विस्तारित करने के उद्देश्य से लोग एकजुट हुए थे। इस समिति की बैठक में जमनालाल बजाज ने 'आल इंडिया काऊ प्रोटेक्शन एसोसिएशन' का नाम बदल कर 'गौ सेवा समाज'[33] करने का सुझाव दिया। गाँधी को यह सुझाव कारगर लगा और गौ सेवा नाम को स्वीकार कर लिया गया। गौ सेवा को अपनाने और गौ रक्षा शब्द को किनारे करने के पीछे गाँधी ने दो तर्कों को रखा।

पहला, गाँधी गौ रक्षा को केवल हिन्दुओं तक सीमित नहीं रखना चाहते थे, बल्कि अन्य सभी धर्मों को इसके साथ जोड़ना चाहते थे। गाँधी के अनुसार गौ रक्षा शब्द स्वयं (हिन्दुओं) और अन्य (मुस्लिमों और अन्य गैर हिन्दू समुदाय) के बीच एक दायरे का निर्माण करता है, जिसमें एक पक्ष विरोधी और दूसरा पक्ष बचाव करने वाला होगा। गाँधी ऐसे किसी भी शब्द से बचने का प्रयास करते थे, जिससे गौ रक्षा के नाम पर किसी भी प्रकार का विवाद या साम्प्रदायिक विभाजन[34] की स्थिति पैदा हो। इस नजरिये से गौ सेवा शब्द से एकजुटता और सकारात्मकता के भाव को महसूस करना अधिक सहज लगता है।

दूसरा, गाँधी यह भी स्वीकारते हैं कि वास्तव में गौ रक्षा मनुष्य के सामर्थ्य के बाहर की बात है, चूँकि 'मनुष्य स्वयं अपनी रक्षा के लिए ही ईश्वर पर निर्भर'[35] है। ऐसी स्थिति में, मनुष्य का केवल समर्पण के भाव से गौ सेवा में शामिल होना ही पर्याप्त है। अत: गौ सेवा शब्द का प्रयोग किया जाना अधिक उपयुक्त होगा। गाँधी की नजर में गौ सेवा, नैतिकता और नैतिक साधन ही धर्म की राह है। गौ संरक्षण के लिए धन के दान की आवश्यकता है, लेकिन असल में श्रम-दान और नि:स्वार्थ समर्पण ही गौ सेवा का आधार है। इस श्रम-दान के माध्यम से गाँधी उन लोगों को भी शामिल करते हैं, जो आर्थिक रूप से कमजोर हैं या धन का दान करने में असमर्थ हैं। दरअसल, गौ सेवा निष्क्रिय भागीदारी या सीमित भागीदारी नहीं है, बल्कि सक्रिय और सम्पूर्ण सहभागिता है।

इस सहभागिता में गाँधी गौ सेवा को धर्म और नैतिक मार्गों तक ही केन्द्रित नहीं करते, बल्कि संरक्षण के लिए आर्थिक पक्ष भी बेहद महत्वपूर्ण मानते हैं। गाँधी धर्म के आर्थिक महत्त्व को समझाते हुए आर्थिक महत्त्व को धर्म के न्यायोचित ठहराते हैं। जैसा कि नवजीवन में 1926 के लेख में उन्होंने लिखा कि 'सच्चा धर्म सदैव वैध आर्थिक लक्ष्य को ही बढ़ावा देता है'।[36] एक तरह से देखा जाये तो धर्म और अर्थ एक दूसरे के विरोधाभासी दिखाई देते हैं। जहाँ एक ओर धर्म में अक्सर किसी भी तरह के प्रश्न की गुंजाइश को दबाने का प्रयास किया जाता है, अर्थात् धर्म में बदलाव बेहद कठिन है। दूसरी ओर अर्थ के क्षेत्र में लाभ के लिए लचीलापन की सम्भावनाओं को लेकर खुलापन दिखता है। अत: अर्थ और धर्म के बीच आधारभूत अन्तर है। गाँधी ने इन दोनों के अन्तर को पाटते हुए सन्तुलन स्थापित किया है।

गौ सेवा और संरक्षण को सुनिश्चित करने के लिए यह जरूरी था कि इस सम्बन्ध में बेहतर आर्थिक योजनाओं का निर्माण किया जाये। यह तभी सम्भव था, जब अर्थव्यवस्था में गाय के योगदान और महत्व को समझा और संरक्षित किया जाये। गाँधी इस बात से अवगत थे, कि उन पशुओं को बचाना सम्भव नहीं है, जो भार के समान हों।[37] साथ ही वे किसी भी क्षेत्र में आर्थिक लाभ को अर्जित करने के लिए आर्थिक निवेश की अहमियत को भी जानते थे। गाँधी की मानें तो गायों की स्थिति को बेहतर करने और आर्थिक उपयोगिता में बढ़ोतरी करने के लिए आधारभूत संरचनाओं में निवेश किया जाना चाहिए। आर्थिक निवेश के लिए गाँधी व्यापारी वर्ग के आर्थिक अनुदान को अहम् मानते हैं। साथ ही गौ रक्षा निधि में सहयोग नहीं करने पर 1925 में मारवाड़ी अग्रवाल कॉन्फ्रेंस कलकत्ता[38] के दौरान मारवाड़ी समुदाय के व्यापारियों को फटकार भी लगाते हैं। गाँधीजी गौवंश संरक्षण के हित में नस्ल सुधार, चारे की उचित व्यवस्था, गौ रक्षा के लिए नये संस्थानों[39] आदि के निर्माण के विषय में सोचे जाने पर जोर देते हैं। इससे साफ झलकता है कि गाँधी गौ संरक्षण को वैज्ञानिक तर्ज पर विनियोजित करने की दिशा में बात कर रहे थे।

गाँधी धर्म की हठधार्मिकता को आर्थिक पहलू से सन्तुलित करने का प्रयास करते हैं। गौ सेवा की समझ को सर्वग्राह्य बनाने के उतरदायित्व को गाँधी ने बखूबी निभाया। पहला, हिन्दू समाज में तार्किकता की ओर बढ़ती जिज्ञासा को शान्त करते हुए आने वाली पीढ़ियों के बीच आर्थिक महत्त्व को गौ सेवा के केन्द्र में रखा। दूसरा, आर्थिक लक्ष्यों को साधने हेतु नयी और बेहतर आर्थिक परियोजनाओं पर पुनर्विचार की ओर ध्यान आकर्षित किया। दरअसल गाँधी की समझ में अभी भी कई भारतीयों को गाय के अर्थव्यवस्था में योगदान, उपयोग, दूध के महत्त्व और पशुपालन के सही तरीकों के समग्र और लाभकारी ज्ञान का अभाव है। इसलिये हिन्दुओं को भी सिर्फ धर्म के अतिरिक्त गौ पालन के वैज्ञानिक तरीकों पर जोर दिये जाने की जरूरत है। गौ सेवा और संरक्षण के विचार के आर्थिक-सांस्कृतिक पहलू आपस में एक दूसरे से स्वतन्त्र न होकर अन्तर्सम्बन्धित हैं। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में गाँधी ने गौ हत्या रोकने के लिए तीन मूल तत्वों - शिक्षा, बोध और दयालुता के भाव को महत्वपूर्ण माना।

विचारों में मतैक्य और समीक्षा

गाँधी के कई व्याख्यानों से कुछ संशय उत्पन्न होते हैं। मसलन, कई जगहों गाँधी ने यह कहा कि 'मुझे उम्मीद है कि हमारे इस प्रयास पर मुस्लिम हमारे साथ धोखा नहीं करेंगे'[40] या उनके द्वारा यह कहा जाना कि 'गायों की गर्दन पर चाकू चलाने के बजाय मुस्लिमों से मेरा यह अनुरोध है कि मेरी गर्दन[41] पर चाकू चला दें'। दोनों ही कथनों में गाँधी के विचार, मुस्लिमों पर नैतिक और मानसिक दबाव की तरह कार्य कर रहे हैं। मुस्लिमों से इन अपेक्षाओं को रखा जाना दर्शाता है कि गाँधी के उदार व्यक्तित्व पर धर्म की हठधर्मिता का खासा प्रभाव देखने को मिलता है। गाँधी के आह्वान और हिन्दू-मुस्लिम विवाद को समाप्त करने की पहल में कुछ मुस्लिमों ने गौकशी का त्याग तो किया, लेकिन यह बेहद सीमित रहा। यह पहल भी अधिकतर मुस्लिम धर्म के उस समूह में शुरू हुई जो राजनीति से नजदीकी रूप से जुड़े थे। ऐसी स्थिति में न तो यह पहल सामाजिक बन सकी और न ही मुस्लिम समाज के बाकी तबके के बीच अपनी जगह बना पायी।

गाँधी के विचारों में उदारता पर अक्सर ही हिन्दू धर्म की हठधर्मिता हावी रही। मसलन 'धर्म का शासन तब तक मुमकिन नहीं है, जब तक गौ हत्या पर प्रतिबन्ध न लगाया जाये'[42]। कई जगहों पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल मुस्लिमों के अलावा उन हिन्दुओं के लिए जरूरी बना दिया गया, जिन्हें हिन्दू धर्म में जन्म लेने के बाद भी स्वयं को लगातार अच्छा हिन्दू सिद्ध करना होगा। असल में गौ रक्षा को गाँधी मुस्लिमों के समक्ष 'धार्मिक-अनुरोध' के रूप में रखते हैं। जबकि गौ मांस खाने वाले हिन्दुओं, विशेष रूप से दलितों के लिए, गाँधी गौ रक्षा को 'धार्मिक-अनिवार्यता' के रूप में स्थापित करते हैं। अनिवार्य हिन्दू बनने या स्वयं को बनाये रखने के लिए जरूरी है कि समय-समय पर गौ सेवा में शामिल हुआ जाये। गाँधी ने आर.बी. तालेगूंकर को लिखे पत्र में लिखा है - 'हरिजन यह भली प्रकार से जानते हैं कि एक अच्छे हिन्दू होने के लिए गौ मांस और सड़े मांस से दूर रहना आवश्यक है'[43], ताकि सभी हिन्दुओं को गौ रक्षा के लिए एकजुट[44] किया जा सके। गाँधी ने कहा 'यदि यह दायित्व हिन्दू नहीं निभाएँगे तो अन्य कौन इस उतरदायित्व का वहन करेगा'[45]। अक्टूबर 1925 को भागलपुर में दिये अपने सम्बोधन में गाँधी कहते हैं कि 'अछूत समुदाय को मांसाहार का त्याग करना होगा'[46]। अम्बेडकर इस मसले को सामाजिक, राजनीतिक और जातीय दृष्टिकोण से परखते हैं और गाँधी की इस अवधारणा की कड़ी आलोचना करते हैं। अम्बेडकर ने गौ मांस के इतिहास के जरिये राजनीति और सामाजिक भेदभावों के विषय में जाँच की कि अछूत और हरिजनों को इस स्थिति में किस प्रकार धकेला गया है? इसमें ब्राह्मणवादी ढाँचे की भूमिका और गौ रक्षा की प्रक्रिया ने हरिजनों और अछूत समाज को कब और कैसे गुनहगार बनाया गया, इस पर विस्तार से विमर्श रखा है। अम्बेडकर के अनुसार अछूतों के मुख्य आहार के रूप में मृत गायों के मांस को खाया जाना प्रचलन में रहा है, इसके अलावा मरे हुए जानवर की चमड़ी निकलने का काम भी अछूतों द्वारा ही किया जाता था। कुछ समुदाय तो इन मरे हुए जानवरों की चमड़ी और हड्डियों[47] से वस्तुएँ बनाने का भी काम करते

हैं। इसका अर्थ था कि न केवल खान-पान की जरूरत के रूप में, बल्कि इसके अलावा व्यवसाय के सन्दर्भ में भी अछूतों और गौ मांस आपस में जुड़े हुए थे। यह हिन्दू समुदाय का सबसे गरीब और बेबस समूह है, जो मरे हुए जानवर को भूख और खान-पान के अभाव के चलते खाने को विवश है।

गाँधी गौ मांस खाये जाने की मनाही और शाकाहार को हिन्दू धर्म का केन्द्र मानते हैं, जबकि अम्बेडकर इसे भी चुनौती देते हैं। अम्बेडकर के अनुसार हिन्दू धर्म में प्राचीन काल से ही गौ मांस खाने की परम्परा चली आ रही है। इसके साक्ष्य कई स्थानों पर देखे जा सकते हैं। मसलन, 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र 14, 15 और 29 में यह लिखा गया है कि गाय और बैल पवित्र हैं इसलिये उनके मांस को खाया जाना चाहिए'[48]। दूसरा 'मधुपर्क[49] में मांस, खासकर गौ मांस एक महत्वपूर्ण तत्व'[50] है। अम्बेडकर के लिए यह ऐसा जाल था जो ब्राह्मणों द्वारा अछूतों के लिए बुना गया था, जो झूठ और दोगलेपन की भावना में लिपटा हुआ था।

गौर करने वाली बात यह थी कि गाँधी धर्म न मानने वाले भारतीयों के बीच गाय को राजनीतिक आवश्यकता के रूप में पेश करते हैं। मिसाल के तौर पर 1917 में बेतिया के भाषण को देखा जा सकता है, जहाँ गाँधी ने गौ रक्षा को प्रत्येक भारतीय का प्राथमिक उत्तरदायित्व[51] बताया और तार्किकता में विश्वास रखने वालों के लिए गाँधी गाय को आर्थिक महत्त्व की विषयवस्तु के रूप में पेश करते हैं। गाँधी के तरीके भले ही शारीरिक हिंसा का समर्थन न करते हों, परन्तु उद्देश्य पूरी तरह से गौ रक्षा को प्राथमिकता बनाये जाने पर केन्द्रित रहा। यही हठधर्मिता गाँधी के सर्वधर्म समभाव के विचारों के साथ भी कलह उत्पन्न करती है।

अपने समय में गौ रक्षा के नाम पर हिंसा और द्वेष की परिस्थिति से निपटने और सामाजिक और राजनीतिक बेहतरी के लिए गाँधी ने कई प्रयास किये। परन्तु ऐसा करने में एक शैली दिखाई पड़ती है। जैसे जब-जब तनाव की स्थिति मजबूत रही तब-तब गाँधी ने हिन्दुओं के स्व-नियन्त्रण और शुद्धिकरण पर जोर दिया। वहीं हिन्दू-मुस्लिम तनाव में शिथिलता के समय राष्ट्रीय एकता के लिए गाँधी मुस्लिम सम्प्रदाय को विशाल हृदय से गौकशी का त्याग करने के लिए अनुरोध करते हैं। यह कहा जाना गाँधी के अवसरवादिता के भाव को दर्शाता है।

यही वजह थी कि कांग्रेस के नेतृत्व में शामिल मुख्य कुछ लोग इस गौ रक्षा के मुद्दे को पार्टी की राष्ट्रीय परियोजना का हिस्सा बनाये जाने को लेकर सहज नहीं थे। यह समूह गाँधी के उस सुझाव का भी खंडन करता है जिसमें गाँधी गौ रक्षा के मुद्दे पर मुस्लिमों का सहयोग कर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध और भविष्य के भारत को एकजुट करना चाहते थे। कांग्रेस के इस समूह की मानें तो ऐसा करना वृहद् राष्ट्रीय परियोजनाओं में बाधा[52] सिद्ध होगा। ऐसा हुआ भी, 22 अप्रैल 1946 में टाइम्स पत्रिका के अंक में दिये अपने साक्षात्कार के दौरान मुहम्मद अली जिन्ना ने कहा 'मैं गाय खाना चाहता हूँ और हिन्दू उसकी पूजा करते हैं। हिन्दू और मुस्लिम के बीच कोई समानता नहीं है, सिवाय इसके कि दोनों ही ब्रिटेन के गुलाम हैं'।[53] जिन्ना द्विराष्ट्र सिद्धान्त को आसानी से आगे बढ़ाने के लिए भी गाय को राजनीतिक

प्रतीकवाद[54] की तरह प्रयोग करने को उत्साहित थे। ऐसी अवस्था में गाँधी के विचार जोर नहीं पकड़ सके।

यदि गाँधी के विचारों की सार्थकता की बात की जाये तो कुछ मूल्यों को समझने की आवश्यकता है। उदाहरण के रूप में गाँधी जिस तपश्चर्या और स्वनियन्त्रण को अपनाये जाने पर जोर देते हैं वास्तव में वह मनुष्य में मानवीय और सकारात्मक ऊर्जा की दिशा में आगे बढ़ने में सहायक सिद्ध होंगे। समाज में क्षीण होते सामजिक, धार्मिक सम्बन्धों को सुधारने के लिए लोगों के बीच आत्मसंयम और भावनाओं के आवेग को सहज करने में भी सहायक सिद्ध होंगे। इससे भारत जैसी बहुसांस्कृतिक, बहुभाषाई और बहुधार्मिक संस्कृतियों के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है। हाल की गौ हिंसा घटनाओं में इसी आपसी समझ, एकता और सामंजस्य की कमी के चलते परिस्थितियाँ आपे से बाहर हो गयी थीं। ऐसे में गाँधी के तरीकों को व्यावहारिकता में अपनाये जाने की खासी जरूरत महसूस होती है, जिससे लोग समाज में हो रही घटनाओं पर स्वयं संज्ञान लेते हुए आत्मविश्लेषण करें। यह केवल लोगों के मानसिक, धार्मिक और समाज में नैतिकता के विकास के परम अनिवार्य तत्व हैं।

गाँधी के मन्तव्यों से आज के राजनीतिज्ञों और समाज के शुभचिन्तकों को यह भी सीख लेने की आवश्यकता है कि किसी भी देश में समाज का नेतृत्व कर रहे लोगों को समाज में उच्च मूल्यों को बढ़ावा देने और निम्न मूल्यों का दमन करने के लिए कार्य करना चाहिए। उच्च मूल्यों से अभिप्राय उन मूल्यों से है, जो समाज में सामाजिक भाईचारे, एकता और सौहार्द्रपूर्ण रिश्तों को कायम करने की प्रेरणा दें। यहीं उच्च मूल्य समाज राजनीतिक और सामाजिक अनुशासन स्थापित करने में सहायक सिद्ध होंगे। गाँधी भी अपने समय में उन सभी सभाओं की आलोचना करते हैं जो हिंसात्मक गतिविधियों में संलिप्त रहीं। सामाजिक नेतृत्व के पद की गरिमा को बनाये रखने और आपसी विश्वास जीतने के लिए संवाद कायम करने की दिशा का यह प्रयास आज के सन्दर्भ में सराहनीय और आवश्यक है।

गौ हिंसा की घटनाओं में एक सबसे बड़ी समस्या यह थी कि समाज धर्म के सम्बन्ध में एक दूसरे के लिए पूर्वाग्रहों को अपने मन-मस्तिष्क से नहीं निकल सका था। जैसा कि पूर्व में ऊपर जिक्र किया गया है कि गाँधी आपसी शंकाओं को गौ हिंसा की घटनाओं की मुख्य वजह मानते थे। ऐसे में हिन्दू-मुस्लिम समूहों ने आपस में एक दूसरे को अपने पूर्वाग्रहों को दूर करने के अवसर ही नहीं दिए। गाँधी के जरिये समाज को यह जानने की आवश्यकता है कि समाज में एक दूसरे को समझने, परखने, संवाद और विश्वास करने के अधिक से अधिक अवसर प्रदान किये जाने चाहिए।

गाँधी का विश्लेषण इसीलिये भी महत्वपूर्ण है ताकि विकास और गौ रक्षण के सही तरीकों को पहचाना जा सके। वर्तमान में जिस तरह के गौ रक्षण को समाज में पेश किया जा रहा है, यह उस समय के समाज के लिए भी खतरनाक था और आज भी उतना ही भयावह है। असल में, गौ रक्षा के मसले पर लोग जल्दी और आसान समाधान चाहते हैं। गाँधी उस धैर्य का भी प्रतीक हैं, जो धार्मिक विवादों के समाधान के लिए जरूरी है। गौ रक्षा को लेकर विवाद

भी बेहद संवेदनशील है, जिसके लिए रचनात्मक समाधानों की आवश्यकता है। यह केवल गौ रक्षा के तरीकों में ही नहीं, बल्कि गौ संरक्षण के वैज्ञानिक सुधार के विषय में भी ध्यान देने योग्य है।

गाँधी के विचारों की समस्या यह रही कि समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था को गाय के प्रति संवेदनशील बनाते-बनाते गाँधी ने गाय को हिन्दू धर्म, स्वराज, आपसी भ्रातृत्व, दलितों और भारतीयता के लिए अनिवार्य बना दिया। यह गौरतलब है कि लगातार या सीमाओं से परे जा कर बार बार किसी भी विषय-वस्तु के लिए बोला जाना भी एक बल प्रयोग ही है। हमारे सामाजिक, धार्मिक रिश्ते हम पर किसी प्रकार का दबाव न बनाएँ, इस पर विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की आधारशिला प्रेम है, दबाव नहीं।

वर्तमान समय में भी गौ रक्षा की घटनाओं में हिंसा देखा जाना यह दर्शाता कि समाज में अभी भी न्याय और तार्किकता की समझ में गुंजाइश बाकी है। आधुनिकता, राज्य और विकास के दौड़ में आज भी भारत सामाजिक और आपसी रिश्तों में विश्वास बुन पाने में असफल रहा है। इसका दायित्त्व किसी एक सरकार पर नहीं है, बल्कि बहुसांस्कृतिक देश में सामाजिक सम्बन्ध में मधुरता किस प्रकार लायी जाये इस को एक गम्भीर सवाल ही नहीं माना गया है। साल-दर-साल इसकी कमियाँ प्रखर रूप से सामने आ रही हैं, जिसे राज्य और समाज को गम्भीरता से लेना होगा।

स्पष्ट है कि न तो हम गौ रक्षा के दौरान हिंसा के अनुभवों से सीख पाये हैं और न ही समाज को संवेदनशील और तार्किक बना सके हैं। राजनीति और समाज दोनों ही इन हिंसा की घटनाओं में मूक दर्शक बने रहे। यह केवल उस समाज का ही उपहास नहीं, जो यह दावा करता है कि गाँधी उनके आदर्श हैं, बल्कि उन लोगों के दावों का भी मजाक था, जो गाँधी को एक आदर्श प्रतीक बनाने में लगे रहे। लेकिन न तो स्वयं गाँधी को आत्मसात् कर पाये और न ही इस महत्त्व को समाज में स्थापित कर सके। आधुनिक भारत में गाँधी के विचारों को कई लेखों, कार्यक्रमों, संस्थानों आदि के माध्यमों से पुनर्जीवन दिया जा चुका है। नि:सन्देह गाँधी के जीवन और विचारों का अवलोकन किया जाना आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना पहले था।

टिप्पणी

1. पारेल, एन्थोनी (1969) : 187.
2. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी (यहाँ के बाद, गाँधी), खंड-19 (1999) : 349.
3. गाँधी, खंड-31 : 212.
4. गाँधी, खंड-31 : 283.
5. पारेल : 35.
6. स्वयं शब्द का प्रयोग यहाँ गौ रक्षा में विश्वास करने वाले हिन्दू और हिन्दू धर्म से उपजे अन्य अहिंसात्मक धर्म के लिए किया गया है और अन्य शब्द का प्रयोग हिंसात्मक धर्म अर्थात् ईसाई और मुस्लिम धर्म के लिए प्रयोग किया जाता था।

7. गाँधी, खंड-16 : 55.
8. हिन्दू मुस्लिम के बीच साम्प्रदायिक तनाव की घटनाओं के बारे में विस्तार से पढ़ने के लिए इस लिंक https://dahd.nic.in/hi/related-links/annex-ii-7-survey-hindu-muslim-riots-1917-1977 का प्रयोग करे।
9. गाँधी, खंड-11 : 195.
10. गाँधी, खंड-11 : 195.
11. पारेल : 185.
12. गाँधी, खंड-16 : 55.
13. गाँधी, खंड-10 : 272.
14. गाँधी, खंड-33 : 53.
15. गाँधी, खंड-16 : 55.
16. देसाई, ए.आर. (1976), *सोशल बेकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म,* पॉपुलर प्रकाशन, बॉम्बे : 287.
17. पारेल, एन्थोनी (1969), 'द पोलिटिकल सिम्बोलिस्म ऑफ द काऊ इन इंडिया', *जर्नल ऑफ कॉमनवेल्थ पोलिटिकल स्टडीज,* खंड 7 : अंक 3 : 179-203, 180.
18. गाँधी, खंड-24 : 20.
19. गाँधी, खंड-25 : 23.
20. गाँधी, खंड-16 : 378.
21. गाँधी, खंड-11 : 196.
22. गाँधी, खंड-10 : 272.
23. गाँधी, खंड-24 : 79.
24. गाँधी, खंड-42 : 302.
25. गाँधी, खंड-16 : 54.
26. गाँधी, खंड- 16 : 157.
27. गाँधी, खंड-30 : 142.
28. गाँधी, खंड-39 : 178.
29. गाँधी, खंड-39 : 178.
30. गाँधी, खंड-39 : 177.
31. गाँधी, खंड-92 : 192.
32. गाँधी, खंड-31 : 254.
33. गाँधी, खंड- 42 : 303.
34. गाँधी, खंड-56 : 186.
35. गाँधी, खंड-56 : 185.
36. गाँधी, खंड-36 : 178,
37. गाँधी, खंड-92 : 119.
38. गाँधी, खंड-32 : 239.

39. गाँधी, खंड-30 : 142-143.
40. गाँधी, खंड-22 : 288.
41. गाँधी, खंड-16 : 143.
42. गाँधी, खंड-33 : 55.
43. गाँधी, खंड-58 : 237.
44. गाँधी, खंड-24 : 192.
45. गाँधी, खंड-32 : 171.
46. गाँधी, खंड-33 : 46.
47. डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर राइटिंग एंड स्पीचेस (यहाँ के बाद अम्बेडकर), खंड-7, (2014) : 318.
48. अम्बेडकर, खंड 7 : 325.
49. यह आर्यों द्वारा अतिथियों के सम्मान में परोसे जाना वाला खाद्य पदार्थ है। विस्तार से पढ़ने के लिए खंड 7 के पृष्ठ 325 पर देखें।
50. यह आर्यों द्वारा अतिथियों के सम्मान में परोसे जाना वाला खाद्य पदार्थ है। विस्तार से पढ़ने के लिए खंड 7 के पृष्ठ 326 पर देखें।
51. गाँधी, खंड-16 : 55.
52. रॉयचौधरी, अन्द्रिजा (2018).
53. https://soundcloud.com/newslaundrypodcast/nl-reads_cow-question-part-1 को 1 जून 2020 को सन्दर्भ अनुसार सुना गया.
54. https://soundcloud.com/newslaundrypodcast/nl-reads_cow-question-part-1 को 1 जून 2020 को सन्दर्भ अनुसार सुना गया.

सन्दर्भ ग्रन्थ

देसाई, ए.आर. (1976), सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पॉपुलर प्रकाशन, बॉम्बे.

पारेल, एन्थोनी (1969), 'द पोलीटिकल सिम्बोलिस्म ऑफ द काऊ इन इंडिया', *जर्नल ऑफ कॉमनवेल्थ पोलिटिकल स्टडीज,* खंड 7, अंक 3.

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-10, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-11, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-16, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-22, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-24, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-25, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-30, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-31, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-32, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-33, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-36, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-39, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-42, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-56, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-58, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी (1999) (इलेक्ट्रॉनिक बुक्स), खंड-92, पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली. वेब https://www.gandhiashramsevagram.org/gandhi-literature/collected-works-of-mahatma-gandhi-volume-1-to-98.php

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर राइटिंग एंड स्पीचेस (2014) (सं.), हरि नार्के, खंड-7, डॉ अम्बेडकर फाउंडेशन, नयी दिल्ली. वेब https://www.mea.gov.in/books-writings-of-ambedkar.htm

रॉयचौधरी, अन्द्रिजा (2018), 'व्हाय द काऊ इज वर्शिप्ड इन हिन्दुत्व पॉलिटिक्स', *द इंडियन एक्सप्रेस,* 17 जुलाई, वेब https://indianexpress.com/article/research/cow-protection-hindutva-politics-bjp-india-5227382/ देखने की तारीख 22 अगस्त 2019.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 2, दिसम्बर 2022, पृ. 66-72)

चुनाव सुधार की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास

सुधाकर कुमार मिश्र*

चुनाव की प्रणाली में करने योग्य उन परिवर्तनों/बदलावों को चुनाव सुधार कहते हैं, जिनके आवेदित करने से जनता की आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ चुनाव परिणामों के रूप में अधिकाधिक परिणति होने लगें। लोकतन्त्र के सशक्तिकरण को मापने के लिए 'आन्तरिक दलीय लोकतन्त्र' को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। आन्तरिक लोकतन्त्र के अभाव में दलों में विचार-विमर्श नहीं हो पाता, जिसके कारण स्थायित्व की भावना नहीं आ पाती है। चुनाव सुधार के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक दलों के आयकर विवरण को सार्वजनिक किया जाए। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में अनेक राजनीतिक दल हैं, इनमें से कुछ संचरित और कैडर आधारित संगठन हैं, जो एक वैचारिक लक्ष्य या सिद्धान्त को लेकर काम करते हैं।

प्रस्तावना

लोकतन्त्र में राजनीतिक दल प्राणवायु के समान होते हैं। राजनीतिक दल सरकार के लिए ईन्धन का कार्य करते हैं। प्रतिनिधिक लोकतन्त्र में राजनीतिक दल प्रतिनिधित्व का माध्यम होते हैं। राजनीतिक दलों में सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है, अर्थात् ऊपर बैठे व्यक्तियों के पास सत्ता अधिक होती है, जो फैसला करते हैं कि आने वाले आम

*सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान, स्वामी श्रद्धानन्द कॉलेज, अलीपुर, दिल्ली
E-mail: sudhakarkrmishra@gmail.com

चुनावों और मध्यावधि चुनावों में किसको टिकट मिले? इसी को संगठनात्मक दृष्टि से 'हाईकमान संस्कृति' कहा जाता है। इस तरह की सोच और संस्कृति से परिवारवाद, व्यक्तिवाद एवं वंशवाद जैसे सम्प्रत्ययों का विकास होता है और राजनीतिक नेतृत्व के समक्ष निर्णय करने की प्रक्रिया अत्यधिक केन्द्रीकृत होती है।

राजनीतिक दलों के आन्तरिक चुनावों में जो मतदाता वोट देते हैं, उनका नामांकन भी राजनीतिक दल के प्रभावशाली व्यक्ति ही करते हैं। यह मौलिक रूप से लोकतन्त्र विरोधी है, इसका परिणाम यह होता है कि एक ही व्यक्ति चुनाव लड़ता रहता है और राजनीतिक दल में ऊपर जाना अत्यधिक दुष्कर होता है। जगदीप चोखर ने इन चुनावों को 'दिखावटी/बनावटी चुनाव' कहा है।[1]

चुनाव प्रणाली में करने योग्य परिवर्तनों/बदलावों को चुनाव सुधार कहते हैं, जिनको आवेदित करने से जनता की आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ चुनाव परिणामों के रूप में अधिकाधिक परिणत होने लगी हैं।

लोकतन्त्र के सशक्तिकरण को मापने के लिए 'आन्तरिक दलीय लोकतन्त्र' को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। भारत के लोकतन्त्र और निर्वाचन आयोग का दुर्भाग्य है कि इस समय निर्वाचन आयोग के पास कोई अधिकार नहीं है कि वह भारत के राजनीतिक दलों में आन्तरिक लोकतन्त्र की मजबूती का आकलन कर सके। आन्तरिक लोकतन्त्र के अभाव में दलों में विचार-विमर्श नहीं हो पाता है, जिससे स्थायित्व की भावना नहीं आ पाती है। लोकतान्त्रिक प्रक्रिया में भाग लेने वाले किसी भी राजनीतिक दल को अपने संगठन/संघ के कार्यों के रूप में औपचारिक एवं आवधिक चुनाव कराने चाहिए, जिससे राजनीतिक दलों में लोकतान्त्रिक मूल्यों का समावेश हो सके एवं दल के भीतर उत्पन्न निराशा एवं कुण्ठा का विलोपन हो सके।[2]

1994 में न्यायमूर्ति बी.आर. कृष्णन अय्यर समिति ने सभी राजनीतिक दलों में आन्तरिक लोकतन्त्र को सुनिश्चित करने और लेखा एवं लेखा-परीक्षा हेतु कानूनी मंजूरी की माँग की थी, इसी प्रकार विधि आयोग ने अपने 170वें प्रतिवेदन 'चुनाव कानूनों के सुधार' में स्पष्ट कहा था कि 'राजनीतिक दल भीतर से तानाशाही और बाहर से लोकतान्त्रिक नहीं हो सकते हैं'। इसके साथ ही विधि आयोग ने यह संस्तुति की थी कि राजनीतिक दलों की सम्भावित साम्प्रदायिक गतिविधियों या उनके अन्य संवैधानिक कार्यों का निरीक्षण करने के लिए अलग से एक 'आयुक्त' की नियुक्ति की जानी चाहिए।

2002 में संविधान कार्यों की समीक्षा करने वाले राष्ट्रीय समीक्षा आयोग ने चुनाव एवं चुनाव से इतर समय में पार्टी फंड के विनियमन की आवश्यकता को रेखांकित किया था। इस समिति ने राजनीतिक दलों की लेखा परीक्षा के साथ-साथ उस लेखा परीक्षा को सामान्य निरीक्षण के लिए खोलने की बात कही थी। इसके अतिरिक्त चुनावों के दौरान बढ़ते हुए जातिवाद पर लगाम लगाने के लिए कदम उठाने, दल-बदल कानून को और मजबूत करने और सामान्य जीवन में नैतिकता की स्थापना के लिए प्रयत्न करने की सिफारिश भी की थी।

हिंसा, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और क्षेत्रीयतावाद को निजी हितों के लिए प्रयोग किया जा रहा है, जिससे हिंसक अपराधों में वृद्धि हो रही है।[3]

आम चुनाव के दौरान मतदाता और उम्मीदवार के बीच सूचना की न्यूनता के कारण जो दूरी उत्पन्न होती है, वह कम हो जाती है और मतदाता सूचना पर आधारित सन्तुलित निर्णय ले पाता है, जिससे वह सत्ता के गलियारों में भेजने के लिए सही प्रतिनिधि को चुन पाता है। 2002 के पश्चात् सर्वोच्च न्यायालय के निर्देशानुसार उम्मीदवारों के लिए शपथ-पत्र पर शैक्षणिक और वित्तीय सूचनाएँ उपलब्ध कराना अनिवार्य कर दिया गया है।[4]

2006 में एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म्स ने केन्द्रीय सूचना आयोग में अपील की कि राजनीतिक दलों के आयकर विवरण को सार्वजनिक किया जाए। इस कार्य के लिए संगठन को दो साल तक लम्बा संघर्ष करना पड़ा और उसके बाद 2008 में केन्द्रीय सूचना आयोग ने फैसला दिया कि आयकर के विवरण को सार्वजनिक किया जाए।[5] वर्ष 2013 में जब केन्द्रीय सूचना आयोग ने छह राष्ट्रीय दलों को 'सार्वजनिक प्राधिकरण' घोषित किया, जिससे वे सूचना का अधिकार अधिनियम 2(झ) के प्रभाव की परिधि में आ जाएँ, इसका राजनीतिक दलों ने कड़ा विरोध किया। इस योजना को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया, क्योंकि ऐसी खबरें उड़ने लगी थीं कि सूचना का अधिकार अधिनियम को ही अनुच्छेद 123(1) के अन्तर्गत संशोधित किया जायेगा।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में अनेक राजनीतिक दल हैं। इनमें कुछ संचरित और कैडर आधारित संगठन हैं, जो एक वैचारिक लक्ष्य या सिद्धान्त को लेकर काम करते हैं, जैसे - भारतीय जनता पार्टी या कम्युनिस्ट पार्टी। वहीं कांग्रेस जैसे दलों में अलग-अलग विचारों वाले व्यक्तियों की संरचना है, इसके बाद भी वे एक केन्द्रीय वैचारिक बिन्दु के इर्द-गिर्द काम करते हैं।

कुछ राजनीतिक दल ऐसे भी हैं जो सामाजिक या क्षेत्रीय पक्षों को लेकर चलते हैं। भारत की संघीय और बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था ने भी वंशवाद या व्यक्तिगत प्रभाव वाले लोगों के प्रभुत्व को बढ़ावा दिया है। इसमें वित्तीय अनुदान भी महत्वपूर्ण हो जाता है, इसलिये अनेक दलों में आन्तरिक चुनाव पर ज्यादा जोर नहीं दिया जाता है। कांग्रेस पार्टी में बहुत साल बाद अध्यक्ष का चुनाव हुआ है।[6]

राजनीतिक दलों के वित्तीय आधार में सुधार की बात की जाये तो राजनीतिक चन्दे के रूप में चुनावी बाँड के मुद्दे पर चर्चा करने से बचा नहीं जा सकता है। चुनावी बाँड से वास्तविक स्तर पर सखा पूंजीवाद यानी क्रोनी कैपिटलिज्म ही प्रोत्साहित हुआ है। यह सुधार एक प्रतिगामी सुधार है। कम्पनियाँ करोड़ों रुपये इधर-उधर कर सकती हैं और किसी को भनक भी नहीं लगेगी कि पैसा किसने किसको दिया?[7] यह व्यवस्था किसी भी तरह से पारदर्शी नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि पूँजीपति देश चलाएँगे, जो सम्भवत: वर्षों से करते आ रहे हैं। अब एक कम्पनी अपने फायदे का सौ प्रतिशत किसी राजनीतिक दल को चन्दे के रूप में दे सकती है और बदले में वह दल सत्ता में आकर उस कम्पनी के अनुरूप

नीतियों का निर्माण करेगा। ऐसी ही व्यवस्था का संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में जबरदस्त विरोध हुआ था; जिससे वहाँ 'लूट-प्रणाली' पर नियन्त्रण स्थापित हुआ था।[8]

चुनाव प्रचार के दौरान राजनीतिक दल जो खर्चा/व्यय करते हैं, उसे चुनाव मैदान में उतरे उम्मीदवारों के लिए निर्धारित व्यय की अधिकतम सीमा में नहीं जोड़ा जाता है। अपराधी व्यक्तियों को चन्दा देना सरल हो गया है और बदले में उन्हें अपने अनुरूप कानून बनवाने की स्वायत्तता मिल जाती है। इस तरह राजनीतिक व्यवस्था में अपराधीकरण आरम्भ हो जाता है। चुनाव सुधार पर भारत सरकार ने 1990 में श्री दिनेश गोस्वामी समिति का गठन किया था, जिसने संस्तुत किया था कि मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को राज्य की ओर से माल के रूप में सीमित वित्त पोषण प्रदान किया जाए।[9]

इसी प्रकार 1998 में श्री इन्द्रजीत गुप्ता समिति ने मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों और उनके उम्मीदवारों के लिए आंशिक वित्तपोषण का अनुमोदन किया था। इस उपादेयता के कारण लोकतन्त्र में समानता का वातावरण तैयार होगा और सभी दलों को समान अवसर प्राप्त होगा, जो स्वस्थ लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के लिए अति आवश्यक है। यूरोपीय राष्ट्र-राज्यों की तरह सामान्य वित्तपोषण उपलब्ध कराया जाए, जिसके अन्तर्गत प्राप्त प्रति वोट के अनुसार एक निश्चित राशि प्रदान की जाए। हम एकदम से निर्णय कर सकते हैं कि प्राप्त प्रति वोट के लिए 100 रुपये दिए जाएँगे। उदाहरण के लिए पिछले चुनाव में 55 करोड़ प्राप्त हुए हैं तो प्रति वोट 100 रुपये दिए जाएँगे।

राज्य व्यवस्था द्वारा दलों का यह वित्तपोषण चुनाव प्रचार के दौरान पानी की तरह पैसा बहाने की मनोवृत्ति पर नियन्त्रण करेगा, जिससे राजनीति में धन-बल पर नियन्त्रण होगा। 2012 में स्टॉकहोम्स के इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट फॉर डेमोक्रेसी एंड इलेक्टोरल एसोसिएशन ने एक अध्ययन किया था, जिसका शीर्षक 'पोलिटिकल फायनेंस रेग्यूलेशन अराउन्ड द वर्ल्ड' था। यह अध्ययन 180 सभ्य राष्ट्रों में किया गया था, और एक आश्चर्यजनक तथ्य उभकर आया कि 71 देशों (राज्यों) में चुनाव में प्राप्त मतों के आधार पर राज्य द्वारा वित्तपोषण किया गया था। तुलनात्मक आधार पर अध्ययन करें तो स्पष्ट होता है कि यूरोप के 86 प्रतिशत, अफ्रीका के 71 प्रतिशत, उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के 58 प्रतिशत और एशिया के 58 प्रतिशत देशों में इस तरह की व्यवस्था अपनाई गई है। इस व्यवस्था को अपनाकर राजनीतिक व्यवस्था को मजबूती प्रदान करने के लिए आवश्यक है कि नेतृत्व स्तर पर मजबूत राजनीतिक इच्छाशक्ति हो।

लोकतन्त्र में चुनाव सुधार की दिशा में सफल पहल रही कि दागी विधायकों को अयोग्य ठहराना है। लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8 के अनुसार कानूनन अपराधी ठहराए गए राजनीतिज्ञ चुनाव नहीं लड़ सकते हैं, लेकिन जिल पर मुकदमा चल रहा है, वह कितना भी गम्भीर हो, उनके चुनाव लड़ने पर कोई रोक नहीं है?

चुनाव सुधार की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास

2002 में न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह की अध्यक्षता में चुनाव सुधार के लिए समिति गठित की गयी थी; जिसका प्रतिवेदन में आपराधिक रेकॉर्ड/आपराधिक पृष्ठभूमि के उम्मीदवारों या न्यायालय में मुकदमों का सामना कर रहे उम्मीदवारों के चुनाव लड़ने पर प्रतिबन्ध लगाने की सिफारिश की गई थी। पिछले चार लोकसभा चुनावों में आपराधिक पृष्ठभूमि और आरोपी सदस्यों के अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि आपराधिक पृष्ठभूमि और आरोपी सदस्यों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ी है।

तालिका 1

लोकसभा में आपराधिक पृष्ठभूमि रखने वाले सदस्यों की संख्या

लोकसभा के आंकड़े वर्ष	आपराधिक पृष्ठभूमि की संख्या
2004	124
2009	162
2014	182
2019	233

एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म्स के एक विश्लेषण के अनुसार, राज्यसभा के लगभग 24 प्रतिशत सदस्यों ने अपने खिलाफ आपराधिक मामलों की घोषणा की थी। राज्यसभा की 233 सीटों में से 229 के विश्लेषण से पता चलता है कि 54 सांसदों ने आपराधिक मामलों की घोषणा की थी। नवनिर्वाचित प्रतिनिधियों में से 28 या 12 प्रतिशत ने गम्भीर आपराधिक मामलों की घोषणा की थी।

सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश दीपक मिश्रा ने इस विषय पर निर्णय दिया था कि न्यायालय संसद की भूमिका में नहीं हो सकती है। संसद इस मामले में अनुच्छेद 102(1) के अनुसार कानून बना सकती है।[10] राजनीति के आपराधीकरण के विरुद्ध चुनाव आयोग पिछले दो दशकों से संघर्ष कर रहा है और आयोग के लगातार गुहार लगाने के बावजूद न्यायतन्त्र ने इसकी सहायता करने से इंकार ही किया है; क्योंकि न्यायपालिका के पास मुकदमों का अत्यधिक बोझ है। समाचार चैनलों और सोशल मीडिया के माध्यम से 'प्रायोजित खबरों' और 'झूठी खबरों' से राजनीतिक परिणाम प्रभावित नहीं होना चाहिए। मतदाता सूचियों को मतदाता सम्पर्क के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा है, फलस्वरूप गोपनीयता को लेकर चिन्ताएँ खड़ी हो गई हैं। केम्ब्रिज एनेलिटिका कांड इस सम्बन्ध में नवीनतम उदाहरण है।

चुनाव आयोग का सुधार एवं मतदाता सहभागिता बढ़ाने के लिए एम-3 इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (एम-3 ईवीएम) के संशोधित संस्करण के रूप में रिमोट इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन तैयार की गयी है, जिससे शिक्षा, रोजगार या अन्य कारणों से देश (राज्य) में रहने वाले व्यक्ति चुनाव में सहभागिता कर सकें।[11]

चुनाव आयोग ने घरेलू प्रवासी मतदाताओं, बीमार, बुजुर्गो एवं शहर से पलायन कर बाहर जाने वाले श्रमिकों के लिए रिमोट इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग (आर-3 ईवीएम) मशीन विकसित करके एक नूतन उपादेयता दी है। ऐसे करोड़ों व्यक्ति अपने मताधिकार (संवैधानिक अधिकार) का उपयोग नहीं कर पाते, क्योंकि सैकड़ों किलोमीटर की यात्रा करके अपने गाँव-घर वोट डालने जाना सुविधाजनक नहीं होता है। एक अनुमान के अनुसार 30 करोड़ मतदाता वोट करने से वंचित रह जाते हैं, ऐसे मतदाताओं के लिए रिमोट ईवीएम लोकतान्त्रिक वरदान सिद्ध होगी।

राजनीतिक दलों के निर्माण, वित्तीय व्यवस्था, लेखा परीक्षा और संचालन में अनेक खामियाँ है, जिन्हें दूर करके एक स्वस्थ लोकतान्त्रिक प्रणाली का निर्माण किया जा सकता है। लोकतन्त्र में राजनीतिक दल सत्ता के लिए संवाहक होते हैं। लोकतान्त्रिक खामियों के कारण व्यवस्था को अल्पतन्त्र का गढ़ नहीं बना सकते हैं। संसार भर की राजनीतिक व्यवस्था के संचालन हेतु अनेक प्रभावशाली प्रतिमान उपलब्ध हैं, जो राजनीति के आपराधीकरण को रोकने में सफल रहे हैं।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में पारदर्शिता, समानता, स्वतन्त्रता एवं न्याय की भावना को मजबूती से लागु करना होता है, यह तभी सम्भव है जब शासन में सुशासन के तत्व परिलक्षित होते हैं। लोकतन्त्र को विचार या विचारों के पुंज के रूप में लागु करना होता है। निजी हितों के लिए वर्तमान विधियों को कमजोर करने और व्यवस्था को अपने अनुरूप ढालने की अपेक्षा सभी राजनीतिक दलों को अपने निजी हितों का परित्याग करके राष्ट्रीय एकता की भावना के साथ आगे बढ़ना होगा, इन्हीं शुभ प्रयासों से मजबूत लोकतन्त्र का निर्माण हो सकता है।

उपसंहार

राजनीतिक दलों को राज्य की ओर से माल के रूप में सीमित वित्तपोषण प्रदान किया जाए जिससे उम्मीदवारों के मध्य स्वस्थ लोकतान्त्रिक परम्परा का विकास हो। यूरोप के 86 प्रतिशत, अफ्रीका के 71 प्रतिशत, दक्षिणी अमेरिका के 58 प्रतिशत और एशिया के 58 प्रतिशत देशों (राज्यों) में यह व्यवस्था विद्यमान है।

आयोग को घरेलू प्रवासी मतदाताओं, बीमार, बुजुर्गो एवं शहर से पलायन करके जाने वाले व्यक्तियों के लिए रिमोट इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (आर-3 ईवीएम) को विकसित करना एक अच्छी पहल है। इसी के साथ यह सुझाव है कि - मत-पत्र की अपेक्षा इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन का प्रयोग होना चाहिए; अनिवार्य मतदान हेतु कानून का निर्माण किया जाए; 'किसी को मत नहीं' (नोटा) का विकल्प; निर्वाचित प्रतिनिधियों को हटाने या बुलाने की व्यवस्था; एवं स्त्रियों एवं निर्बल समूहों के लिए स्थानों का आरक्षण।

सन्दर्भ

1. राय, रामबहादुर एवं शर्मा, महेशचन्द्र, *हमारा संविधान : एक पुनरावलोकन,* प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
2. पाण्डेय, जे.एन., *भारत का संविधान,* सीएलए प्रकाशन, प्रयागराज
3. राय, रामबहादुर एवं शर्मा, महेशचन्द्र, *हमारा संविधान : एक पुनरावलोकन,* प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
4. *दैनिक जागरण,* 28 अगस्त 2002, नई दिल्ली
5. BBCHindi.com
6. *द हिन्दू,* 23 सितम्बर, 2022, नई दिल्ली
7. *द हिन्दू,* 28 सितम्बर, 2022, नई दिल्ली
8. गेना, सी.बी., *कम्पेरेटिव गवर्नमेंट एंड पोलिटिक्स,* एस. चाँद पब्लिकेशन
9. www.eci.gov.in
10. भारत, 2022, सूचना प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली
11. *दैनिक जागरण,* राष्ट्रीय संस्करण, 1 जनवरी, 2023

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 2, दिसम्बर 2022, पृ. 73-77)

महात्मा गाँधी का मानव प्रकृति का सिद्धान्त

हरीश दत्त*

गाँधीजी का मानना था कि यदि हर व्यक्ति अपने सम्पर्क में आने वालों के कल्याण का बीड़ा उठा ले तो सब लोगों का, परिवारों का कल्याण हो जायेगा, अर्थात् सब लोगों का सब क्षेत्रों में कल्याण केवल उस हद तक सम्भव है जहाँ तक मनुष्य अपने परिवार तथा उनके सम्पर्क में आने वालों का कल्याण कर पायेगा। गाँधीजी का यह भी मत था कि मनुष्य को अपनी क्षमताओं को जानकर उनका अनुसरण करना चाहिए। जिस हद तक वह करना चाहे कर सकता है, क्योंकि मनुष्य एक पशु के रूप में जन्म लेता है, लेकिन अपनी मानवीय क्षमताओं के आधार पर चलकर, स्वयं परमाता भी बन सकता है। मनुष्य का जीवन तभी सार्थक है।

महात्मा गाँधी ने मानव प्रकृति की आध्यात्मिक व्याख्या की है। गाँधी के अनुसार, सारे ब्रह्माण्ड की रचना एक ऐसी शक्ति के द्वारा हुई है, जिसे सत्य के नाम से जाना जाता है। इसी सत्य को परमात्मा की संज्ञा दी गयी है, और यह सत्य रूपी परमात्मा का अंश आत्मा के रूप में हर उस प्राणी अथवा वस्तु में है, जो चेतन है। मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में आध्यात्मिक रूप से केवल इतना अन्तर है कि अन्य प्राणियों में आत्मा सुप्त अवस्था में रहता है, जबकि

*इंस्टिट्यूट ऑफ इकनोमिक ग्रोथ, नार्थ कैंपस, दिल्ली यूनिवर्सिटी, दिल्ली
E-mail: harish@iegindia.org

मनुष्य में यह सत्य रूपी तत्व चेतन अवस्था में विराजमान ही नहीं होता बल्कि जागरूक भी रहता है। चूंकि, उसे अपनी इस आध्यात्मिक शक्ति का ज्ञान भी है। इसलिए केवल मानव ही अपने आत्मा का अनुसरण कर सकता है।

आत्मा, परमात्मा का अंश होने के कारण वही गुण रखता है जो परमात्मा में है। परमात्मा सर्वशक्तिमान है। मनुष्य भी अपने आत्मा का अनुसरण करके शक्तिमान होना चाहे तो हो सकता है। सत्य रूपी परमात्मा निराकार है, उसका कोई स्वरूप या आकार नहीं होता, वह निराकार है।

मनुष्य की आत्मा भी निराकार है। वह हमारे शरीर के किसी अंग का नाम नहीं है। वह हमारी उस शक्ति का नाम है जो हमारे जीवन का संचालन करती है। जिस प्रकार सत्य रूपी परमात्मा सारे ब्रह्माण्ड का संचालन करता है, वैसे ही मनुष्य की आत्मा उसके सारे जीवन का संचालन करती है। इसलिये आत्मा ईश्वरीय शक्ति है। गाँधीजी को अपनी यह बात चरितार्थ करने के लिए एक कहावत बहुत पसन्द आती थी, जिसे वे बार-बार दोहराते थे। वह थी - 'आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं'।

आत्मा ईश्वरीय शक्ति होने के कारण सदैव अच्छे और नेक काम करने के लिए प्रेरित करती है। चूंकि यह उस परम शक्ति का नाम है, जो परोपकारी है। परमात्मा परोपकारी है। मनुष्य भी अपने आत्मा का अनुसरण करके जितना परोपकारी होना चाहे हो सकता है। परमात्मा और आत्मा का सम्बन्ध एक दैवीय सम्बन्ध है। जो मनुष्य और उसे बनाने वाले परमात्मा के रूप में एकरूपता लाती है। सभी मनुष्यों में उसी सर्वरूपी परमात्मा का अंश है। इसलिये एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य का सम्बन्ध एक दैवीय सम्बन्ध है। जहाँ हम परमात्मा की सन्तान हैं, वहीं उसी परमात्मा के रिश्ते से हम बहन-भाई भी हैं। सत्य रूपी परमात्मा हमको केवल यही शिक्षा देता है कि गुरु-भाईयों के इस समाज में एक-दूसरे की अधिक से अधिक भलाई करें। परमात्मा सबका भला करता है, यदि हम भी एक दूसरे का भला करना शुरू कर दें, तो हम उस स्तर पर पहुँच जायेंगे, जहाँ हम परोपकार से ईश्वर के काम में भागीदार बन जायेंगे। मनुष्य जब जितना चाहे ईश्वर के साथ भागीदार बन सकता है। परोपकार में ईश्वर की सहायता कर सकता है।

आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को बताने के लिए गाँधी ने कुछ उपाय दिये थे, जिनमें दो सबसे प्रमुख थे। प्रथम, ईश्वर एक समुद्र का नाम है, हमारी आत्मा उसकी एक बूँद है। दूसरा, ईश्वर एक वट वृक्ष का नाम है, जिसके हम सब पत्ते हैं। फिर भी सत्यरूपी परमात्मा और मनुष्य के आत्मा में एक अन्तर है। परमात्मा सर्वगुण सम्पन्न हैं, मनुष्य को सर्वगुण सम्पन्न बनना है, और ऐसा बनने की क्षमता उसमें है। मनुष्य की प्रकृति प्रगतिशील और विकासशील है। इसलिये मनुष्य अपने आत्मा का अनुसरण करके अपना, अपने समाज का और राज्य की उन्नति का प्रयत्न कर सकता है। हर वह बात जो हमें उन्नति के रास्ते पर ले जाए, आत्मा से प्रेरित होती है और जो बात हमें अवनति की ओर ले जाए वह आत्मा का अनुसरण नहीं करती है। यही परिवर्तनशील मानव की प्रकृति है।

गाँधी के अनुसार, आत्मा एक आन्तरिक शक्ति का नाम है। सत्य रूपी परमात्मा आत्मा के रूप में हमारे अन्दर विराजमान है। वह कोई बाहरी शक्ति नहीं जिसके लिए मनुष्य मन्दिरों या पहाड़ों में भटकता रहे। आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में किसी बिचौलिए की जरूरत नहीं है, और न ही किसी मन्दिर और पुजारी की। चूंकि सत्य रूपी परमात्मा से सीधा साक्षात्कार करने की क्षमता मनुष्य में है। अत: जब भी परामर्श की आवश्यकता हो तो मनुष्य को स्वयं ध्यान लगाकर सीधा आत्मा से परामर्श कर लेना चाहिए तथा उसी का अनुसरण करना चाहिए।

आत्मा उस परमात्मा का रूप है जो शान्तिप्रिय है, जो कभी भी विनाश न तो चाहता है और न ही करता है। परमात्मा एक सक्रिय शक्ति है, वह किसी का हनन नहीं करता और न ही जोर-जबरदस्ती करता है। इसलिये आत्मा का अनुसरण करने वाला मनुष्य भी हिंसा नहीं करता और न ही किसी को दु:ख पहुँचाता है। जैसे परमात्मा अहिंसक है, वैसे ही मनुष्य भी प्रकृति से अहिंसक है।

दुनिया में न तो कोई मनुष्य पूर्ण रूप से अच्छा है, और न पूर्ण रूप से बुरा। एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में यह अन्तर नहीं है कि 'एक अच्छा है तो दूसरा बुरा, बल्कि एक बहुत अच्छा है, तो दूसरा कम अच्छा है', अर्थात् मनुष्य में केवल मात्रात्मक अन्तर है, न कि गुणात्मक। दूसरे शब्दों में,यह कह सकते हैं कि यह अन्तर डिग्री का है। मनुष्य जितना अच्छा बनना चाहे, बन सकता है। एक अच्छे मनुष्य का यह दैवीय कर्तव्य है कि जो उसके सम्पर्क में आए, उसे वह और अच्छा बनने को प्रेरित करे। गाँधी ने सारे जीवन यही किया, जो उनके सम्पर्क में आया, सत्याग्रही बन गया।

गाँधी ने मनुष्य की तुलना अन्य प्राणियों से की है। यह भेद, राजनीतिक आधार पर भी किया है। गाँधी की मान्यता थी कि सुख और दु:ख का अनुभव तो सभी प्राणियों में एक समान होता है, लेकिन तर्क करने की शक्ति तथा विभिन्न विकल्पों में से सही विकल्प को छाँटने की क्षमता मनुष्य में है। किस समय कौन सा विकल्प श्रेष्ठतर है, मनुष्य ही उस बात का मनन कर सकता है। इसलिए हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है - 'मनन करोति इति मनुष्यत:'।

सामाजिक रूप से केवल मनुष्य में यह क्षमता है कि वह अपने स्वार्थ को छोड़कर अपनी इच्छा से समाज के बन्धनों को अच्छे हों तो स्वीकार करे और बुरे हों तो बदल डाले। मनुष्य चाहे तो स्वयं अपने भाग्य का विधाता बन सकता है।

इस प्रकार, सांस्कृतिक रूप से मनुष्य एक जागरूक दैवीय प्राणी है, तार्किक है, और सामाजिक बन्धनों को स्वीकार करने अथवा बदल डालने की क्षमता रखता है। मनुष्य जिस हद तक अपनी इन क्षमताओं के प्रति जागरूक होगा, उस हद तक वह अपने आत्मा को इतना सचेत कर लेगा कि उसमें और उसके परमात्मा में अन्तर इतना कम हो जायेगा कि उसे अनुभव होगा कि शायद वह उस स्तर तक पहुँच गया है, जहाँ उसे और अधिक परमात्मा से पूछने की आवश्यकता नहीं है। यदि वह चाहे तो अपनी क्षमताओं को इतना जागरूक बना सकता है कि स्वयं सत्यरूपी परमात्मा उससे परामर्श लेने लगे और उससे पूछे कि तेरी रजा क्या है?

इन क्षमताओं के बावजूद भी गाँधी ने पाया कि आमतौर पर मनुष्य वैसा नहीं है, जैसा सोचा जाता है। प्रत्यक्ष में तो प्राय: इसका उल्टा ही दिखता है। गाँधी का अनुभव था कि मनुष्य स्वार्थी, ढोंगी, झूठा, लालची, धोखेबाज और अविश्वसनीय है। दूसरों को दुःख पहुँचाता है। ऐसा गाँधी ने इसलिए सोचा क्योंकि मनुष्य अपनी क्षमताओं से दूर होकर, अपने प्रति सचेत न होकर और अपने आत्मा के अनुसरण के बगैर अपना जीवन चलाता है। ऐसा इसलिये होता है, क्योंकि हम अज्ञान के वशीभूत होकर कार्य करते हैं। मनुष्य बुरा है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अच्छा नहीं है। यदि मनुष्य अपने रास्ते से भटक सकता है, तो वापस आने की क्षमता भी रखता है। मनुष्य केवल ऐसा प्राणी नहीं हैं कि गलती ही करे, बल्कि अपनी गलती को सुधारने की क्षमता भी उसमें है। लेकिन एक बुरा आदमी स्वयं अपने आप सुधर जाए, यह सम्भव नहीं है। इस काम में उन लोगों की जरूरत पड़ेगी जो उसके सम्पर्क में हों। विशेषकर उस व्यक्ति की जरूरत होगी जिसको उसकी बुराई से हानि पहुँच रही हो। गलती करने वाले को कभी भी दंड देकर नहीं सुधारा जा सकता है, और न ही जोर-जबरदस्ती से उसे सुधारा जा सकता है। बुरे व्यक्ति को उसकी बुराई का ज्ञान कराकर और उससे होने वाली हानि का ज्ञान कराकर ही सुधारा जा सकता है। इसके लिए विरोधी के प्रति सहनशीलता, क्षमा, उपकार की भावना की आवश्यकता होगी।

गाँधी यह भी मानते थे कि मनुष्य में न केवल गलती करने, गिरने और भटकने की क्षमता है बल्कि वह एक ऐसा प्राणी भी है जो भूल-सुधार की पूर्ण क्षमता भी रखता है। वह अपनी गलती अथवा पाप-पुण्य को पहचान कर उसका प्रायश्चित्त भी कर सकता है, अर्थात् दोबारा वैसी गलती न करने का प्रण भी कर सकता है। इसलिये गाँधी जी ने जेल को सुधार घर के रूप में स्वीकार किया था।

गाँधी का अपना अनुभव था कि क्षमा, सहनशीलता और उपकार के रास्ते पर चलकर बुरे से बुरे आदमी को अच्छा बनाया जा सकता है। दक्षिण अफ्रीका में जनरल स्मर्ट, गाँधी के सबसे बड़े विरोधी थे, लेकिन जब वर्ष 1914 में गाँधी का सत्याग्रह समाप्त हुआ, तो वही गाँधी के सबसे बड़े भक्त बन गए थे। इसके अतिरिक्त, चर्चिल ने गाँधी को एक नंगा फकीर कहकर अपमानित किया था, उसी चर्चिल ने बाद में गाँधी को विश्व का महानतम आत्मा बताया।

गाँधी यह मानते थे कि मनुष्य की आत्मा अगर साकार होती है, तो एक वीणा बजाने वाले को यह ज्ञान होता है कि किस समय किस तार को बजाये तो वैसा ही संगीत निकलेगा, जैसा बजाने वाला चाहता है। गाँधी हृदय परिवर्तन में विश्वास रखते थे। यह उन्होंने सम्भव करके दिखाया, तभी तो समय आने पर बड़े से बड़े विरोधी भी उनके भक्त बन गए। इस वीणा के तीन तार गाँधी को मालूम थे -

पहला तार था - विचार-विमर्श। उनका मत था कि जब तक विरोधी की बात सुनेंगे और समझेंगे नहीं और उसे अपनी बात सुनाएँगे और समझाएँगे नहीं, तब तक उसका विरोध कम नहीं होगा।

दूसरा तार था - जितनी बात विरोधी की सही हो उसे मान लिया जाए। इससे अपनी बात जितनी सही है, उसे मनवाने के लिए एक वातावरण तैयार हो जायेगा।

तीसरा तार था - त्याग-आत्मत्याग। अर्थात् अपने स्वार्थ को छोड़कर समाज कल्याण की भावना से कार्य करना। अर्थात् जिससे अपने कल्याण के साथ दूसरों को हानि न हो।

इस प्रकार आत्मा रूपी वीणा के यह तीन तार यदि किसी मनुष्य ने साध लिये तो वह समाज में शान्ति का स्वर बजा सकता है। अत: गाँधी का सत्याग्रह एक दर्पण है, जिसके तीन पक्ष हैं - प्रथम, जिसमें विरोधी अपने आप को देखता है। दूसरा, वह देखने वाले को देखता है, तथा तीसरा, जिसमें वह अपने विरोधी को देखता है। यदि ऐसा आईना प्रत्येक व्यक्ति अपने पास रखे तो विरोध एवं बुराई का लोप हो जायेगा।

II

गाँधी का मानव प्रकृति का सिद्धान्त

प्रकृति ने मनुष्य को शेर, चीते, भालू की तरह जबड़े और पंजे नहीं दिये हैं। इसलिये उसे मांसाहारी नहीं, शाकाहारी बनाया है। मनुष्य जानवर नहीं है कि वह प्रत्येक वस्तु खा ले। वह केवल फल खाकर भी जिन्दा रह सकता है। अत: मनुष्य स्वभाव से फलाहारी माना जाता है। इसलिये मनुष्य का स्वभाव चीर-फाड़ करने का नहीं है, न ही अपने से कमजोर और निष्क्रिय प्राणी को मारकर खा जाने का है। अत: अपने से कमजोर की रक्षा करना, अपने से कम पढ़े को पढ़ाना, जरूरतमन्द की जरूरत को पूरा करना, उसका फायदा नहीं उठाना, मानव का स्वभाव रहा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हर समर्थ व्यक्ति में असमर्थ व्यक्ति के प्रति सहयोग, भलाई और परोपकार की भावना होनी चाहिए।

गाँधी ने मनुष्य की तुलना पक्षियों से की है। प्रकृति ने मनुष्य को पंख नहीं दिये हैं, हाथ-पैर दिये हैं, जिनकी गति धीमी होती है। प्रकृति ने ऐसा करके मनुष्य की गतिशीलता पर अंकुश लगा दिया है, अर्थात् मनुष्य बहुत ज्यादा नहीं कर सकता और सारी दुनिया का कल्याण नहीं कर सकता। अर्थात् जो उसके और जिनके सम्पर्क में वह आ सकता है, जिनकी जरूरतों को वह जानता और पूरा करने की क्षमता रखता है और जो उससे भली-भाँति परिचित हो तथा जिनकी उसमे निष्ठा हो, वह केवल उन लोगों के कल्याण की बात कर सकता है, जहाँ तक उसके हाथ-पैर जा सकते हैं। यदि हर व्यक्ति अपने सम्पर्क में आने वाले के कल्याण का बीड़ा उठा ले तो सब लोगों का, सब परिवारों का कल्याण हो जायेगा। अर्थात् सब लोगों का सब क्षेत्रों में कल्याण केवल उस हद तक सम्भव है, जहाँ तक मनुष्य अपने परिवार तथा उनके सम्पर्क में आने वालों का कल्याण कर पायेगा।

इस तरह गाँधी का मत था कि मनुष्य को अपनी क्षमताओं को जानकर उनका अनुसरण करना चाहिए। जिस हद तक वह करना चाहे कर सकता है, क्योंकि मनुष्य एक पशु के रूप में जन्म लेता है, लेकिन अपनी मानवीय क्षमताओं के आधार पर चलकर, स्वयं परमात्मा भी बन सकता है। मनुष्य का जीवन तभी सार्थक है, जब वह पशु से परमात्मा बन जाये।

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 2, दिसम्बर 2022, पृ. 78-84)

वृद्ध विमर्श से सम्बन्धित कहानियों पर दृष्टिपात

सोनिया माला*

प्रस्तुत शोध-पत्र में वृद्ध विमर्श पर चर्चा की गयी है। शोध-पत्र में विभिन्न कहानियों में चित्रित वृद्धावस्था का विवेचन किया गया है। इसके माध्यम से यह वह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि सेवानिवृत्त होने के पश्चात् बच्चों के लिए माता-पिता का अस्तित्व गौण हो जाता है।

आज हिन्दी साहित्य में अनेक विमर्शों की उत्पति हो चुकी है। अक्सर हम दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, बाल विमर्श, किन्नर विमर्श, कृषक विमर्श, स्त्री विमर्श, वृद्ध विमर्श आदि के बारें में चर्चा करते हैं। प्रत्येक विमर्श की अपनी पृष्ठभूमि है और प्रत्येक के अन्तर्गत मनुष्य की समस्याओं का चित्रण है। प्रत्येक विमर्श में किसी तथ्य का अनुसन्धान, विवेचन, आलोचना और समीक्षा की जाती है। किसी बात या विषय में किसी निर्णय या निश्चय पर पहुँचने से पहले जब हम लोगों के साथ बैठकर उसके सब अंगों या पक्षों का ऊँच-नीच और हानि-लाभ देखते हैं या सब बातें अच्छी तरह सोचते-समझते हैं, तब हमारा कार्य विमर्श कहलाता है। विचार हम स्वयं या अकेले कर सकते हैं। परन्तु विमर्श में किसी

*घर नं. 497, ब्लॉक नं. 2, नजदीक रेलवे स्टेशन, सतनाम नगर, दोराहा शहर, जिला लुधियाना (पंजाब)
E-mail: ssoonia@rediffmail.com

दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों की अपेक्षा होती है। मूल रूप में कहा जा सकता है कि आपस में मिल-जुलकर और अच्छी तरह सोच-समझकर की जाने वाली चर्चा ही विमर्श है। प्रस्तुत शोध-पत्र में वृद्ध विमर्श पर चर्चा की जा रही है। शोध आलेख में विभिन्न कहानियों में चित्रित वृद्धावस्था का चित्रण किया गया है जिनके माध्यम से स्पष्ट करना चाहा है कि सेवानिवृत्त होने के पश्चात् बच्चों के लिए माता-पिता का अस्तित्व गौण हो जाता है। इस वर्णन को निम्न चित्रित कहानियों के आधार पर देखेंगे।

अमृत राय की कहानी 'आँखमिचौनी' में लेखक ने स्पष्ट किया है कि बच्चे अपने वृद्ध हुए माता-पिता से बात करने में आनाकानी करते हैं। कहानी के एक दृश्य में स्पष्ट किया गया है - "एक भूरे सन्नाटे की खोल में लिपटे हुए साँस लेते रहना। न कोई बोलता है और न कोई आवाज कान में पड़ती है और न कुछ साफ दिखायी पड़ता है। समय काटे नहीं कटता। हर आधे-पौन घंटे पर वक्त पूछती रहती है - कोई ढँग से बता देता और कोई इस पर खीझ जाता है और कुछ बुरा नहीं करता और कुछ अच्छा भी नहीं करता।"[1] लेखक ने इस कहानी के शीर्षक आँखमिचौनी की तुलना मुख्य पात्र की माँ की नींद से की है। मुख्य पात्र को अपनी माँ से यह पूछना सबसे अच्छा लगता है कि उसे नींद आयी? जब उसकी माँ यह कहती कि उसे नींद आयी और अच्छी आयी तब उसे उसकी माँ के चेहरे पर एक विशेष तृप्ति देखने को मिलती है। क्योंकि ज्यादातर उसकी माँ यही कहती है कि रात दो बजे नींद उचट गई और फिर जागते रहना पड़ा। सोच रही थी कि सवेरा कब होगा। लेखक स्पष्ट करना चाहता है कि बच्चों को अपने वृद्ध माँ-बाप से तब तक ही प्यार होता है जब तक उन्हें उनसे लाभ लेना होता है। जैसे ही उनके स्वार्थ की सिद्धि हो जाती है, उन्हें अपने कर्तव्य भूल जाते हैं।

प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' में गजाधर बाबू 35 साल की नौकरी करने के पश्चात् रेलवे विभाग से सेवानिवृत्त हो जाते हैं। जब वह रेलवे का क्वार्टर छोड़ रहे होते हैं तो वह गनेशी से कहते हैं कि अब वह अपने परिवार के साथ रहेंगे। खुशी-खुशी वह अपने शहर वाले मकान में अपने परिवार के साथ रहने के लिए आ जाते हैं। परिवार वाले उन्हें देखकर खुश होते हैं, पर जब वह उन्हें उनकी मर्जी के कार्य करने नहीं देते, तो सब उनसे रूठना आरम्भ कर देते हैं। गजाधर बाबू ने जिस घर को बनवाया था, उसी घर में उनके रहने के लिए स्थान नहीं होता। एक दिन गजाधर बाबू को गनेशी की याद आती है - "रोज सुबह पैसेंजर आने से पहले वह गरम-गरम पूरियाँ और जलेबी बनाता था। गजाधर बाबू जब तक उठकर तैयार होते उनके लिए जलेबियाँ और चाय लाकर रख देता था। चाय भी कितनी बढ़िया काँच के गिलास में ऊपर तक भरी लबालब, पूरे ढाई चम्मच चीनी और गाढ़ी मलाई। पैसेंजर भले ही रानीपुर लेट पहुँचे, गनेशी ने चाय पहुँचाने में देर नहीं की। क्या मजाल कि कभी उससे कुछ कहना पड़े।"[2] वहीं घर पर उन्हें जो खाना बसन्ती बनाकर देती है वह स्वाद में ऐसा होता है जिसे कोई भी न खाये। परन्तु बेटी द्वारा खाना तैयार किये जाने के कारण वह खाना खा लेते हैं। वह बसन्ती को पड़ोस के घर जाने से भी मना करते हैं, इस वजह से बसन्ती उनसे बात करना बन्द कर देती है। घर में आए हुए परिवर्तनों को देखते हुए गजाधर बाबू ने सब को कुछ कहना ही

छोड़ दिया। एक दिन गजाधर बाबू एक चिट्ठी हाथ में लेकर अन्दर आते हैं और अपनी पत्नी को पुकारते हैं। वह अपनी पत्नी से कहते हैं कि उन्हें सेठ रामजीमल की चीनी मिल में नौकरी मिल गई है। और वह अब मिल में काम करके पैसे कमाएँगे। लेखक इस कहानी के माध्यम से स्पष्ट करता है कि वह गजाधर बाबू जो यह सोचकर आते हैं कि वह परिवार के साथ रहकर परिवार के साथ समय बिताएँगे। वह परिवार तो उन्हें घर में ही नहीं रखना चाहता। उन्हें सोने तक के लिए कमरा प्रदान नहीं किया जाता। जबकि घर के मालिक वह स्वयं हैं। वृद्धावस्था में जब उन्हें घर में बैठकर आराम करना चाहिए था तब भी बच्चों के न बोलने के कारण और पैसा कम होने के कारण उन्हें घर से दूर काम करने के लिए जाना पड़ा। उनकी संगिनी जिसने उनके साथ जीने-मरने की कसमें खाईं थीं। वह भी वृद्धावस्था में अपने पति की सेवा करने की अपेक्षा घर और बच्चों की ही सेवा करना चाहती है। उसकी पत्नी को यह लगता है कि उसके यहाँ न होने पर बहू और बेटी ज्यादा खर्च करेंगी, जिससे घर की स्थिति खराब हो जाएगी। लेखिका स्पष्ट करना चाहती है कि बच्चों को माँ-बाप सिर्फ जरूरतें पूरी करने तक ही चाहिए, जब वे सेवानिवृत्त हो जाते हैं तब उन्हें उनकी कोई जरूरत नहीं हैं, क्योंकि वे वृद्ध हो चुके हैं। अब वे उनका सहारा नहीं अपितु बोझ हैं।

गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा लिखित 'बूढ़ा ज्वालामुखी' कहानी में लेखक ने स्पष्ट किया है कि रायबहादुर प्रतापनारायण सिंह उच्च जाति और निम्न जाति को लेकर उग्र थे, जिस कारण वृद्धावस्था में उन्हें अकेले ही जीवन-यापन करना पड़ता है। रायबहादुर की बेटी शकुन्तला कहती है - "मैंने बनवारी लाल आर्य से शादी करने का फैसला कर लिया है और यह मेरा अन्तिम फैसला है।" "यह तुम कह रही हो! तुम!" राय साहब चीखे थे - "उस नीच से, जो मेरी जूतियों में पलकर बड़ा हुआ है।"[3] शकुन्तला यह सुनकर चली जाती है। रायसाहब जीवन भर के लिए अपने घर के दरवाजे उसके लिए बन्द कर देते हैं।

रायबहादुर को एक दिन दिल्ली से जगतनारायण का पत्र आता है। उस पत्र को देखकर वह आगबबूला हो जाते हैं। वह इमामु से कहते हैं - "नालायक! लिखता है, दीदी ने कुछ बुरा नहीं किया था। अब वह इतने सुख से है कि आप उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। क्या हुआ जो उसने एक ऐसी जाति के युवक से प्रेमविवाह कर लिया जिसे आप नीच समझते हैं। आप लोग अगर अब भी अपनी मान्यताएँ नहीं बदलेंगे तो आज की पीढ़ी से आपका रिश्ता बिल्कुल छूट जाएगा।"

"मुर्ख, मुझे सबक पढ़ाने चला है। इन बूढ़ी आँखों ने दुनिया देखी है। पागल लिखता है, इन्सान-इन्सान के खून में कोई अन्तर नहीं है। खून पवित्र-अपवित्र नहीं होता। विज्ञान आपकी मान्यताओं को झूठला चुका है।" राय साहब आगे कहते हैं - "पागल! इतना नहीं जानता, लोग मुर्गी पालते हैं तो भी उसकी जाति देख लेते हैं, आदमी तो फिर आदमी है।"[4] राय साहब अपने रवैये के कारण अकेले हो जाते हैं और मौसमों के आने की प्रतीक्षा करते हैं। कहानी स्पष्ट करती है कि परम्परागत मान्यताएँ भी मनुष्य को वृद्धावस्था में अकेला कर देती हैं।

ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता' में लेखक ने स्पष्ट किया है कि घर के बड़े अर्थात् पिताजी बहुओं के आने के पश्चात् घर के अन्दर रहने में आना-कानी करते हैं। कहानी में मुख्य पात्र को उनके घर वाले हमेशा यही कहते हैं कि आप अन्दर आकर सोया करो, पर वह नहीं मानते। कहानी का एक अंश देखिये - "हमारे समाज में बड़े-बूढ़े लोग जैसे बहू-बेटियों के निजी जीवन को स्वच्छन्द रहने देने के लिए अपना अधिकांश समय बाहर व्यतीत किया करते हैं, क्या पिता ने भी वैसा ही करना तो नहीं शुरू कर दिया? उसे पिता के बूढ़ेपन का ख्याल आ कर सिहरन हुई। फिर उसने दृढ़ता से सोचा, पिता अभी बूढ़े नहीं हुए हैं। उन्हें प्रतिक्षण हमारे साथ-साथ जीवित रहना चाहिए। भरसक पुरानी जीवन व्यवस्था कितनी कठोर थी। उसके मस्तिष्क में एक भिंचाव आ गया। विषाद सर्वोपरि था।"[5]

नरेन्द्र कोहली की कहानी 'शटल' में लेखक ने स्पष्ट किया है कि बच्चों के लिए माँ बाप का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता, बच्चे केवल यही सोचते हैं कि उन्हें माँ को अपने पास रखने में फायदा होगा या पिता को रखने में। कहानी में ईशरदास के चार पुत्र हैं। उसके तीनों पुत्रों के विवाह हो चुके हैं। दो पुत्र अलग हो चुके हैं और तीसरा भी अलग होने के बारे में सोच रहा था। चौथे के विवाह के बारे में ईशरदास सोच रहे थे। ईशरदास के दोनों बड़े बेटे चाहते हैं कि - "उनकी माँ भागवन्ती जाकर उनके पास रहे। क्योंकि एक तो वह बच्चों को सँभालेगी, साथ ही साथ रोटियाँ भी पका देगी और जब वे बाहर जाना चाहें तो घर की रखवाली किया करेगी। सालों को साहबी सूझती है। बीवियों से काम कराने से कलेजे में टीस उठती है। इतनी ही साहबी है तो रखें नौकर, रखें आया। वह तो होगा नहीं, चाहेंगे कि माँ के रूप में रोटी भर देकर सस्ती और विश्वसनीय नौकरानी का इन्तजाम कर लें।"[6] ईशरदास अपने बारे में स्वयं सोचता है कि - "वह उनके लिए ऐसी पुरानी वस्तु है, जो घर में बेकार पड़ी है, पर मोह या लोक-लाज के कारण उसे किसी प्रकार बाहर फेंका भी नहीं जा सकता।"[7]

कहानी में एक दिन बड़े बेटे की पत्नी बीमार हो जाती है। भागवन्ती कुछ दिनों के लिए बड़े बेटे के घर बहू की देख-रेख के लिए चली जाती है। दस दिन हो जाते हैं पर भागवन्ती वापिस नहीं आती। ईशरदास सोचता है कि मैं बड़े बेटे के घर स्वयं ही चला जाता हूँ। भागवन्ती को भी देख आता हूँ और बहू की तबीयत भी पूछ आता हूँ। जब वह बेटे के घर पहुँचता है तो देखता है कि बहू का चेहरा पीला हो चुका होता है। वह मन ही मन सोचता है कि बहू तो बीमार नहीं लगती पर भागवन्ती अवश्य बीमार हो चुकी है। ईशरदास मन में कहता है - "इनकी अपनी बीवी की अंगुली भी दु:ख जाए तो आँखों से आँसू झरते हैं और माँ चारपाई से लग जाए तो पता नहीं लगता।"[8] कहानी के माध्यम से लेखक स्पष्ट करना चाहता है कि ईशरदास को अकेलापन बहुत बुरा लगता है। वह चाहता है कि उसके बेटे उससे बात करें। बेटे न सही पत्नी ने तो हमेशा ही उसका साथ दिया है। उनके बच्चे अपने स्वार्थ के लिए अर्थात् अपने कार्यों को सम्पन्न करवाने के लिए हमेशा दोनों को एक दूसरे से अलग रखने में लगे रहते हैं।

मंजुल भगत की कहानी 'दादी का बटुआ' में लेखक ने स्पष्ट किया है कि माँ जब बूढ़ी हो जाती है तो वह केवल उपयोग की वस्तु बनकर रह जाती है। कहानी में सरीना की दादी की आँखें रंगीन पेटीकोट के नेफे पर अटक जाती हैं। सरीना कहती है, इसका नाड़ा निकाल दूँ? दादी मुस्कुराकर उसे खींचने के लिए कहती हैं। जब सरीना हुक पकड़कर खींचती है तो हुक से बँधी जंजीर खिंची चली आती है। एक में एक पिरोयी सोने की जंजीरें एक... दो... तीन... चार... पाँच... छह... गजों-गज लम्बी जंजीर। उसी वक्त दादी की पुतलियाँ खिंचने लगती हैं और चेहरा विकृत हो जाता है। अर्थात् वह दुनिया छोड़कर चली जाती हैं। सरीना की माँ जब कमरे में आती है, तो सोचती है - "तौबा! अजी सब रिश्तेदारों को खबर करनी होगी, अखबार में भी तो देना होगा। मिट्टी उठवाने का इन्तजाम भी करना है। मुझे क्या मालूम था, मैंने तो आज ही उस कमबख्त रामसिंह को भी छुट्टी दे दी।"[9] कहानी में सरीना की माँ को उसकी सास के मर जाने का कोई दु:ख नहीं है। उसे तो केवल चिन्ता यही है कि घर का काम कौन करेगा।

रामकुमार भ्रमर की कहानी 'मोहताज' में लेखक ने स्पष्ट किया है कि गाँव में रहने वाले वृद्ध लोगों को शहर का जीवन अच्छा नहीं लगता। कहानी में राधा गाँव में रहती है। उसे उसके पुत्र नीरज का पत्र आता है कि माँ तुम शहर आ जाओ। पहले तो वह शहर जाने के लिए राजी नहीं होती। पर गाँव वालों के समझाने पर वह कुछ दिनों के लिए शहर जाने को तैयार हो जाती है। जब वह दिल्ली पहुँचती है, तो उसका बेटा नीरज उसे स्टेशन से घर ले जाता है। नीरज की पत्नी शारदा भी माँ का ख्याल रखती है, पर राधा को हर रोज उस घर में ज्यादा से ज्यादा थकान महसूस होती है। एक दिन राधा को सीता और गीता के कमरे में सोना पड़ता है। नीरज की दोनों बेटियाँ अगले दिन शिकायत करती हैं कि दादी उनकी सहेलियों के सामने ऐसे ही नीचे बैठ गईं। राधा को शहरी वातावरण खलने लगता है। जब सतसरूप गाँव वापिस जाने लगता है, तो वह भी गाँव वापिस जाना चाहती है। नीरज, शारदा, सीता तथा गीता कहते हैं कि वह उन्हें छोड़कर न जाए। सतसरूप कहता है - "वहाँ तुम्हारा कौन बैठा है? राधा सतसरूप की ओर देखते हुए कहती है - "क्या कहें कि वहाँ कौन नहीं बैठा और यहाँ कौन बैठा है?" अजब मोहताजी के साथ वह सबको देखती है। गुदगुदे दीवान पर बैठी राधा की माँ फिर खीझती है - "कैसी है ये जिन्दगी? आदमी जाने का भी है, न जाने का भी।"[10]

सुनील कोशिश की कहानी 'पराजित' में लेखक ने सेवानिवृत्त पिता के दु:ख का चित्रांकन किया है। बाबू जगमोहन लाल चाहते हैं कि अब उनका बेटा घर के सारे काम सँभाले, पर उनका बेटा अपनी जिम्मेदारियों को समझता नहीं। वो कहते हैं - "एक हमारा जमाना था, दफ्तर में भी काम करते थे और घर भी देखते थे। सुबह साहबजादे स्कूटर लेकर निकले हैं और अभी तक नदारद हैं। गये होंगे कहीं पिकनिक मनाने या बैठे होंगे किसी यार-दोस्त के यहाँ। हाथ में पीपा लेकर गेहूँ पिसा लाने में शर्म आती है और जब बूढ़ा बाप पीपा कन्धे पर लादे चक्की पर जाता है, इन्हें जरा भी हया नहीं आती। सोचते होंगे - सेवानिवृत्त बाप, एकदम फालतू आदमी, भला क्या गेहूँ भी पिसवाकर नहीं ला सकता।"[11]

सुरेश उनियाल की कहानी 'घुन' में लेखक ने सेवानिवृत्त व्यक्ति की आर्थिक मजबूरियों का चित्रांकन किया है। कहानी में दीनानाथ बाबू दो वर्ष पहले ही सेवानिवृत्त हो जाते हैं। पेंशन के उन्हें मात्र सैंतालीस रुपये पचपन पैसे मिलते हैं। उनका समय से दो साल पहले सेवानिवृत्त होने का कारण यह था कि वह दूसरों की तरह अपनी जेबें नहीं भरते थे। पेंशन के पैसे कम होने के कारण उन्हें सेवानिवृत्ति के बाद भी फैक्टरी में काम करना पड़ता है। फैक्टरी का मैनेजर एक दिन उन्हें बुलाकर डाँटता है - "मिस्टर दीनानाथ, आपकी अकाउंट बुक्स में कितनी गलतियाँ होती हैं। लगता है घुन आपके कपड़ो को ही नहीं, दिमाग को लग गया है। जरा होश से काम कीजिए, वरना हमें कोई दूसरा बन्दोबस्त करना पड़ेगा।" वो समझ गए थे कि उन्हें अब हर बार की तरह फिर से कहीं ओर नौकरी ढूँढनी पड़ेगी। वो जानते थे कि तीस तारीख को उन्हें एक पत्र पकड़ा दिया जाएगा जिस पर लिखा होगा - 'विथ ग्रेट रिग्रेट्स'। मैनेजर के लिए इसका अर्थ होगा - "तुम जैसे नालायक-निखट्टू बूढ़े के लिए हमारी फैक्टरी में कोई स्थान नहीं है। एक बार फिर से नौकरी के लिए भटकना, एक बार फिर से परिचित या अपरिचित लोगों के सामने गिड़गिड़ाना।"[12]

सुर्यबाला की कहानी 'सौगात' में लेखक ने स्पष्ट किया है कि बच्चों के लिए वृद्धों का कोई महत्व नहीं होता। कहानी में बाबूजी की आँखों का ऑपरेशन होता है। ताई बाबूजी की देखभाल के लिए उनके पास अस्पताल आ जाती हैं। जब बाबूजी को अस्पताल से छुट्टी मिलती है तो वह बाबूजी के साथ घर आ जाती हैं। बाबूजी का बेटा कहता है - "वह इस एतवार के लिए ताई का टिकट मँगवा देता है।"

"क्यों?"

"क्यों क्या? ताई को उनके घर भिजवाना है। आपने उन्हें अस्पताल में सँभालने के लिए ही बुलवाया था न! सो सब उन्होंने सँभाल ही दिया।"

"हाँ-हाँ... पर... वे अटके, फिर सँभल गये, यही सोचता था, जरा कुछ दिन और... कुछ दिन और क्यों...? अब तो ऑपरेशन हो गया। जहाँ नाश्ते-खाने का सवाल है, आपको टाइम से पहुँच ही जाता है...। अब आप बूढ़े हुए, भजन-पूजा में ध्यान लगाइये।"[13] यह सुनकर बाबूजी सन्न हो जाते हैं और ताई को सौगात के रूप में अपनी मृत पत्नी की साड़ी भेंट करते हैं।

उल्लिखित कहानियों के माध्यम से स्पष्ट हो जाता है कि वृद्धावस्था की दशा आज के युग में एक ज्वलन्त समस्या है। प्राय: बच्चे अपने लाभ-हानि को देखकर ही उन्हें अपने साथ रहने की स्वीकृति देते हैं। माता-पिता भी मोहवश बच्चों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। उन्हें पता है कि बच्चे उन्हें मात्र इस्तेमाल कर रहे हैं, फिर भी वे अपनी अज्ञानता प्रकट करते हुए अपने पथ पर अग्रसर रहते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 16.
2. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 20.

3. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 31.
4. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 30-31.
5. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 47.
6. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 65.
7. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 66.
8. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 70.
9. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 94.
10. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 114-115.
11. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 125-126.
12. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 133-134.
13. गिरिराज शरण (सं), *वृद्धावस्था की कहानियाँ,* प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 144.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 2, दिसम्बर 2022, पृ. 85-93)

संगोष्ठी प्रतिवेदन*

भारतीय संघवाद का बदलता हुआ समकालीन सन्दर्भ : चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ

विकास†

राष्ट्रीय संगोष्ठी की संकल्पना

संघात्मक शासन व्यवस्था में शक्तियों का विभाजन प्रमुख आधार होता है, परन्तु इसकी प्रगतिशीलता, सुदृढ़ता, एवं भविष्योन्मुख गतिशीलता वहाँ के निवासित जनसमूह की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक मनोवृत्तियों-अभिवृत्तियों की सहचरता के अनुसार होता है। संघीय शासन का तात्पर्य एक ऐसे शासन से होता है, जिसमें संविधान के द्वारा ही केन्द्रीय और राज्य सरकारों के मध्य शक्ति विभाजन कर दिया जाता है और ऐसी व्यवस्था लिपिबद्ध (अनुच्छेदों में) कर दी जाती है कि दोनों के बीच अधिकार क्षेत्र में विवाद और तकरार न हो, बल्कि सहकार के अनुप्रायोगिक फलक विकसित कर जनकल्याणकारी

---

* म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन द्वारा '"भारतीय संघवाद का बदलता हुआ समकालीन सन्दर्भ : चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ" विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी (10-11 नवम्बर, 2022) का प्रतिवेदन.

† शोधार्थी, राजनीति विज्ञान एवं मानवाधिकार विभाग, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म.प्र.), E-mail: sagarvikas829@gmail.com

नीतियों को सम्भारित करें। संघवाद का शास्त्रीय उद्धरण और अनुप्रेरक अमेरिकन संघीय प्रणाली को माना जाता है। यद्यपि यह तथ्य अंशत: सत्य है कि भारतीय संघवाद में उन सभी व्यवस्थाओं के अनुरूप समस्त परिमापों का समायोजन नहीं हुआ है, जैसा अन्य पाश्चात्य व्यवस्थाओं में उपगत एवं अंगीकृत है, जिसका मूल्यांकन विचारकों ने कालखण्ड में विकसित परिदृश्यों एवं सन्दर्भों के अनुरूप किया, जिन्हे विभिन्न नामों से जाना जाता है - केन्द्रीयकृत संघवाद, सहकारी संघवाद, एकत्ववादी संघवाद, सौदेबाजी वाला संघवाद, प्रतिस्पर्धी सहकारी संघवाद, आदि। इस सन्दर्भ में लिविंग्स्टन ने संघवाद की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हुए लिखा है कि संघवाद का सारतत्व सांविधानिक संरचना एवं संस्थागत संरचना से ही नहीं, अपितु सामाजिक संरचना में निहित होता है। भारतीय सामाजिक संरचना में विविधिता है, इसलिये भारतीय सन्दर्भ के परिमापों और समाज की संरचना के आधार पर भारतीय संघवाद की व्याख्या अनिवार्य हो जाती है। जैसे - 7 जून 1947 को भारत एक एकात्मक राज्य हो या संघात्मक, इस प्रश्न पर विचार करने के लिए डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में केन्द्रीय संविधान समिति और प्रान्तीय समिति की संयुक्त बैठक हुई, जिसमें पंडित नेहरू ने भारत के लिए संघीय व्यवस्था को स्वीकार करते हुए केन्द्र को शक्तिशाली बनाने तथा संघीय, प्रान्तीय और समवर्ती सूची का प्रस्ताव रखा, जिसे स्वीकार कर लिया गया। यद्यपि ब्रिटिश काल के विभिन्न अधिनियमों में संघवाद की संकल्पना को निर्दिष्ट किया गया, जैसे - 1935 के अधिनियम की धारा 99 में समूचे भारत के लिए कानून बनाने और धारा 100 में तीन सूचियों का वर्गीकरण किया गया। स्वतन्त्रता के समय ऐसी परिस्थितियाँ रहीं, जिनका निराकरण संघात्मक संविधान में ही सम्भव था। यही कारण रहा कि भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची में (संघ, राज्य एवं समवर्ती सूची) और तीन भागों के लगभग 62 अनुच्छेदों में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर विस्तृत चर्चा की गई है, जिसमें भाग 11 के अनुच्छेद 245 से 263 तक विधायी एवं प्रशासकीय, भाग 12 के अनुच्छेद 264 से 300 तक वित्त, सम्पत्ति, संविदाएँ एवं अन्य वाद तथा भाग 13 के अनुच्छेद 301 से 307 तक व्यापार और वाणिज्य से सम्बन्धित सम्बन्धों को निर्दिष्ट किया गया है। यद्यपि उन सभी शक्तियों में दोनों स्वायत्त हैं, जिनका प्रावधान संविधान में है। परन्तु राजनीतिक समाजों की गतिविधियों और विचारधाराओं के उथल-पुथल तथा सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक तथ्यों का प्रभाव सरकारों के कार्यों में आमूलचूल परिवर्तन ला रहा है। यदि केन्द्र और राज्यों में एक विचारधारा या राजनीतिक दल की सरकार होती है, तब संघर्ष और विवाद के मुद्दे कम उभरते हैं, जबकि इसके विपरीत होने पर संघर्ष की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं। भारतीय संघवाद में सहयोग और संघर्ष के नवीन आयाम विकसित हो रहे हैं, जिनसे नीतियों और परियोजनाओं के क्रियान्वयन में विपरीत प्रभाव हो रहा है। केन्द्र सरकार की नीतियों के प्रति राज्य सरकारें असहज रुख अपना रही हैं और राज्यों के वित्तीय अनुदान के लिए केन्द्र का भी रुख उन्नतिशील नहीं है। इससे दोनों के सम्बन्ध असम्पृक्तता और उदासीनता की दिशा में बढ़ने लगते हैं। जीएसटी लागू होने के पश्चात् से केन्द्र का आर्थिक स्वामित्व अधिक हो गया है।

राज्य सरकारों की आर्थिक निर्भरता केन्द्र पर बढ़ती जा रही है। समय पर वित्तीय अनुदान न मिलने से उनकी योजनाएँ प्रभावित होती हैं। नीति आयोग की योजनाओं को लेकर भी राज्य सहजता नहीं दिखा रहे हैं। कई राज्यों द्वारा यह भी बयानबाजी की जाती है कि वित्तीय अनुदान देने में केन्द्र सरकार असमानता का व्यवहार करती है। यदि उसी राजनीतिक दल की सरकार केन्द्र और राज्य दोनों में है, तो उन्हें अधिक अनुदान मिलता है। यही कारण है कि इन विसंगतियों के उन्मूलन और नवाचार के लिए नूतन धर्माटन संकुल अनिवार्य हो जाता है, इस हेतु पूर्वाग्रह की विसंगतियों को परित्याग कर अकादमिक विचार-विमर्श अनिवार्य है, जिससे संघवाद की चुनौतियों, सम्भावनाओं और सहयोग के लिए नवीन फलक विकसित हो सके। इस विषय को संज्ञान में रखकर मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन द्वारा 'भारतीय संघवाद का बदलता हुआ समकालीन सन्दर्भ : चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ' विषय पर (10-11 नवम्बर 2022) दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन सम्पन्न हुआ, जिसमें संघवाद के विभिन्न पहलुओं पर 37 अतिथि विद्वानों ने अपने विचार रखे।

इस दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी को संघवाद के कई उपशीर्षकों में विभाजित किया गया। ये उपशीर्षक थे - भारत में सहकारी संघवाद की संकल्पना, भारत में केन्द्र राज्यों के समन्वय, सहकार के बिन्दु एवं तनाव के मुद्दे, भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध एवं वित्तीय संघवाद, केन्द्र-राज्य सम्बन्ध एवं मध्यस्थता के बिन्दु, नीति आयोग एवं केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का भविष्य, वैश्विक महामारी कोविड-19 एवं बदलते केन्द्र-राज्य सम्बन्ध। इन सभी उपशीर्षकों पर अतिथि विद्वानों ने अपने मौलिक शोध-पत्र प्रस्तुत किये।

उद्घाटन सत्र

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन द्वारा 'भारतीय संघवाद का बदलता हुआ समकालीन सन्दर्भ : चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ' विषय पर आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का शुभारम्भ भारतीय अकादमिक परम्परा का अनुष्ठान करते हुए दीप प्रज्वलन तथा माँ वीणापाणिनी के पौष्पिक अलंकरण के पश्चात् शुभारम्भ हुआ। संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र का प्रारम्भ संस्थान के निदेशक प्रोफेसर यातीन्द्रसिंह सिसोदिया के स्वागत वक्तव्य एवु संगोष्ठी की पीठिका के साथ हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता संस्थान के अध्यक्ष प्रोफेसर गोपालकृष्ण शर्मा द्वारा की गई, जबकि मुख्य वक्ता के रूप में प्रोफेसर रेखा सक्सेना (प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान, दिल्ली विश्वविद्यालय) उपस्थित रहीं। संगोष्ठी की रूपरेखा एवं उद्देश्यों को संयोजक डॉ. उदय सिंह राजपूत (सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक) द्वारा निर्दिष्ट किया गया, जबकि संचालन का निर्वहन डॉ. पुष्पेन्द्र कुमार मिश्र ने किया।

उद्घाटन सत्र में प्रोफेसर यतीन्द्र सिंह सिसोदिया ने स्वागत वक्तव्य देते हुए संगोष्ठी की विषय-वस्तु, महत्त्व एवं उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि यह संगोष्ठी संघवाद के अनेक फलकों के मुद्दों पर समझ विकसित करेगी। उन्होंने कहा कि यह संगोष्ठी एकदलीय

प्रभुत्व वाली राजनीतिक व्यवस्था से 1990 के दशक में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के उभार के साथ सहकारी संघवाद की ओर पुन: एकदलीय प्रभुत्व वाली राजनीतिक व्यवस्था में संघवाद के विभिन्न पहलुओं की विवेचना करेगी। आज उदारीकरण और वैश्वीकरण के युग में संघवाद का प्रतिरूप परिवर्तित हो रहा है। बाजार और आर्थिक स्थितियों के अनुप्रायोगिक कार्यों में सरकारें भी प्रभावित हो रही हैं। राज्य सरकारों का केन्द्र सरकार पर आरोप-प्रत्यारोप एवं केन्द्र सरकार का राज्य सरकारों पर आरोप-प्रत्यारोप, संघीय शासन के सार्वभौमिक सहयोग और सामंजस्य के लिए ठीक नहीं है। इनके परिमापों के लिए एक आयामी सूत्रों का क्रियान्वयन नहीं किया जा सकता है। इसलिये इस विषय में विद्वानों के दृष्टिकोण को समझना अनिवार्य हो जाता है। इस उद्देश्य को यह संगोष्ठी आदि से अन्त तक समायोजित करेगी। साथ ही उन सभी रिक्तताओं को भी परिपूर्णता में बदलेगी जो संघवाद के आयाम अभी तक अकादमिक विमर्श में निर्दिष्ट नहीं हो सके हैं।

उद्घाटन सत्र की मुख्य वक्ता प्रोफेसर रेखा सक्सेना ने संघवाद के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए दुनिया के कई संघीय प्रतिरूपों की चर्चा करते हुए विश्व के सभी महत्वपूर्ण संघीय प्रतिरूपों को जोड़ते हुए भारतीय संघीय व्यवस्था के प्रतिरूप पर प्रकाश डाला। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित संघवाद तथा केन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित संसदीय प्रणाली की विरोधाभासी व्यवस्था के अन्तर्गत काम कर रही है। उन्होंने कहा कि राज्यों की पुनर्रचना, राज्य सूची के विषयों को समवर्ती सूची में डालना, योजना आयोग के विवेकाधिकार पर संसाधनों को राज्य को हस्तान्तरित करना, अनुच्छेद 356 का पूर्व में दुरुपयोग तथा अनुच्छेद 253 के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को लागू करने के लिए विधि बनाने की शक्ति ने राज्यों की भूमिका को कमतर किया है तथा भारत को एक असमान संघवाद के उदाहरण के रूप में स्थापित किया है। प्रोफेसर सक्सेना ने 2014 के बाद उभरती हुई नवीन प्रवृत्तियों - नीति आयोग, वस्तु एवं सेवा कर, अनुच्छेद 356 का प्रयोग, नागरिकता अधिनियम, कृषि कानून, कोविड-19 वैश्विक महामारी जैसे कई मुद्दों को केन्द्र में रखते हुए भारतीय संघीय व्यवस्था में आ रहे बदलावों पर प्रकाश डाला। उन्होंने नेपाल के संघीय संविधान की अनुभवजन्य पद्धतियों की विवेचना करते हुए वहाँ के संघीय परिरूप के निर्माण में अपनी भूमिका को भी साझा किया। कनाडा, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया की संघीय व्यवस्था से भारतीय संघीय व्यवस्था की तुलनात्मक विवेचना भी प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि संघवाद की बुनियाद दोनों के सहयोग-सामंजस्य की आधारशिला पर टिकी होती है, इसलिये आवश्यक है कि सहकार की भावना से सभी कार्यों का क्रियान्वयन हो। लेकिन वर्चस्व और स्वामित्व की विसंगतियों से प्रभावित सरकारें एक-दूसरे के अधिकार क्षेत्र में जब अतिक्रमण करती हैं तब सम्बन्धों में चुनौतियाँ सन्निकट आ जाती हैं। विविधता वाले सामाजिक परिदृश्य में ऐसी शासन प्रणाली आवश्यक थी, परन्तु उसी विविधता वाले समाज के विकास के लिए राज्यों को स्वायत्तता देना अति आवश्यक है। उनको विकास और प्रगति के समान अवसर प्रदान करते हुए, आर्थिक

रूप से पिछड़े राज्यों को विकसित किया जाना चाहिए। इसमें इस भावना का बिल्कुल परित्याग करना होगा कि किस राज्य विशेष में किस राजनीतिक दल विशेष की सरकार है। तभी नागरिक उन्मुख संघवाद विकसित होगा।

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन के अध्यक्ष प्रोफेसर गोपालकृष्ण शर्मा ने अध्यक्षीय उद्बोधन देते हुए कहा कि भारत एक विविधतापूर्ण राष्ट्र है और विकास की प्रक्रिया निरन्तर जारी है। अनुच्छेद 356 से प्रभावित राजनीतिक दलों ने सत्ता में आने पर इसका दुरुपयोग काफी कम कर दिया है, परन्तु संविधान की मूल भावना के प्रतिकूल वर्तमान में भी राज्यपालों की नियुक्ति सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ताओं के बीच से की जा रही है। किसी भी संस्थान में उच्चपदाधिकारियों की नियुक्ति से पूर्व उसकी पृष्ठभूमि देखी जाती है। उसकी राजनीतिक दल के प्रति निष्ठा देखी जाती है। राज्यपाल अपने विवेकानुसार कार्य भी नहीं कर पाते हैं, उन्हें प्रत्येक कार्य सरकार के इशारों पर करना होता है। यदि केन्द्र और राज्य में एक ही राजनीतिक दल की सरकार नहीं है तो राज्यपाल और मुख्यमन्त्रियों में विवाद प्रारम्भ हो जाता है। राज्य सरकार द्वारा पारित विधेयकों को अनावश्यक राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है, जिससे जनकल्याणकारी परियोजनाओं में बिलम्ब होता है। किसी भी राज्य की सरकार उस राज्य की जनता के बहुमत द्वारा चुनी जाती है, फिर ऐसे में उनके द्वारा निर्मित अधिनियमों में हस्तक्षेप क्यों? इसका तात्पर्य यह है कि राज्यों की निर्णय प्रक्रिया में हस्तक्षेप किया जा रहा है।

उद्घाटन सत्र का संचालन डॉ. पुष्पेन्द्र कुमार मिश्र तथा धन्यवाद ज्ञापन डॉ. उदय सिंह राजपूत ने किया।

प्रथम अकादमिक सत्र

प्रथम तकनीकी सत्र 'भारत में सहकारी संघवाद की संकल्पना, समन्वय एवं सहकार के बिन्दु तथा तनाव के मुद्दे' पर केन्द्रित था। इस तकनीकी सत्र में मुख्य वक्ता प्रोफेसर सरोज कुमार वर्मा, पूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, जयप्रकाश नारायण विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार) थे। सत्र की अध्यक्षता प्रोफेसर वाय.जी. जोशी तथा सह-अध्यक्षता डॉ. पल्लवी नन्दी ने की। इस सत्र के प्रतिवेदक श्री विकास रहे। मुख्य वक्ता प्रोफेसर वर्मा ने 'भारत में सहकारी संघवाद : मिथक एवं यथार्थ' विषय पर शोध-पत्र का वाचन किया। उन्होंने कहा कि संघवाद का आधार शक्तियों का विभाजन है। साथ ही केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध सहकार और समन्वय के सुदृढ़ कार्यों से गतिशीलता स्थापित करते हैं। उन्होंने 1773 के रेग्युलेटिंग एक्ट की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में 1935 के भारत शासन अधिनियम में निर्दिष्ट संघवाद के पहलुओं पर प्रकाश डाला। चौदहवें वित्त आयोग के वित्तीय प्रावधानों के बिन्दुओं को स्पष्ट करते हुए नागरिक समाज के विभिन्न आन्दोलनों एवं 2014 के पश्चात् सहकारी संघवाद की व्याख्या की। प्रोफेसर वर्मा के उद्बोधन के अतिरिक्त चार शोध-पत्र पढ़े गये। सुश्री स्वीटी सिन्हा, सुश्री उमा यादव, सुश्री पलक सिंह एवं श्री मोहन कुमार ने सत्र के मुख्य विषय पर केन्द्रित

शोध-पत्रों का वाचन किया। इस सम्पूर्ण सत्र में भारत में संघवाद का इतिहास, उसकी प्रकृति तथा भारतीय संघ व्यवस्था के स्वरूप पर विचार-विमर्श हुआ। इसके साथ ही भारतीय संविधान में सहकारी संघवाद को स्थापित करने के लिए की गई व्यवस्थाएँ, उनकी कार्यप्रणाली तथा सरकारों से प्रभावित होकर कार्य करने की प्रवृत्ति तथा केन्द्र राज्य के बीच समसामयिक परिदृश्य में उभरे तनाव के मुद्दे पर भी विमर्श हुआ।

द्वितीय अकादमिक सत्र

यह सत्र 'भारतीय संघवाद का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य एवं वर्तमान सन्दर्भ' विषय पर केन्द्रित था। इस सत्र के मुख्य वक्ता प्रोफेसर उत्तमसिंह चौहान थे। सत्र की अध्यक्षता प्रोफेसर दीपिका गुप्ता ने की, सह-अध्यक्ष डॉ. गिरिराजसिंह चौहान रहे और प्रतिवेदक के उत्तरदायित्व का निर्वहन सुश्री शाहिस्ता ने किया। इस सत्र में मुख्य वक्ता सहित छह शोध-पत्र प्रस्तुत किए गए। डॉ. पल्लवी नन्दी, श्री सुमित कुमार, डॉ. नियाज अहमद अंसारी, श्री अक्षत पुष्पम एवं श्री विकास कुमार ने सत्र के मुख्य विषय से सम्बन्धित आयामों पर शोध-पत्रों का वाचन किया। मुख्य वक्ता ने संघवाद के दार्शनिक आधार और सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हुए तत्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा तथा नीति मीमांसा के आधार पर संविधान में मौजूद संघ व्यवस्था के दार्शनिक पक्ष पर प्रकाश डाला। इसके अतिरिक्त भारतीय संघीय व्यवस्था के स्वरूप के निर्धारण में राजनीतिक दलों की भूमिका पर भी चर्चा हुई। विगत 75 वर्षों में देश की दलीय व्यवस्था में आये बदलावों ने संघीय व्यवस्था को भी प्रभावित किया है। प्रारम्भ में एकदलीय प्रभुत्व के दौरान संघीय व्यवस्था का झुकाव केन्द्र की ओर ज्यादा था, लेकिन गठबन्धन सरकारों के दौर में सहकारी संघवाद की भावना को बल मिलता रहा। 1989 में साझा सरकारों के उदय के उपरान्त राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों की भूमिका रही। वे अपने क्षेत्रीय हितों को साधते हुए राष्ट्रीय राजनीति में अपनी भूमिका का निर्वहन करते रहे। तेलगुदेशम्, द्रमुक, असम गण परिषद् तथा शिवसेना का नाम इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण रूप से लिया जा सकता है। वर्तमान समय में इस स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया है। छोटे दल तथा क्षेत्रीय दल, राष्ट्रीय दल के राष्ट्रव्यापी प्रभाव तथा अपनी क्षेत्रीय पहचान एवं आधार के संकट से सशंकित हो रहे हैं।

तृतीय अकादमिक सत्र

यह सत्र 'भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध एवं वित्तीय संघवाद' पर केन्द्रित था। इस सत्र की अध्यक्षता प्रोफेसर शैलेन्द्र पाराशर ने की तथा डॉ. कौशलेन्द्र दीक्षित सह-अध्यक्ष रहे। प्रतिवेदक के उत्तरदायित्व का निर्वहन श्री सुमित कुमार झा ने किया। इस सत्र में मुख्य वक्ता डॉ. अनुराग रत्न थे। मुख्य वक्ता के अतिरिक्त - डॉ. पीयूष त्रिपाठी, श्री आलोक कुमार सिंह, डॉ. भवनीत सिंह बत्रा, डॉ. सुमन रोहिला, डॉ. गिरेन्द्र शर्मा एवं श्री सुमित कुमार झा ने अपने शोध-पत्रों का वचन किया। मुख्य वक्ता ने इस बात पर बल दिया कि संविधान सभा ने केन्द्र

को प्रारम्भ से ही अधिक शक्तियाँ दी हैं, लेकिन विगत 75 वर्षों के इतिहास में हुई घटनाओं ने केन्द्रीकरण के कई नये तत्व जुड़े हैं। एक दलीय प्रभुत्व का होना, सार्वजनिक निगम, संविधान संशोधन, चुनाव आयोग की भूमिका, आतंकवाद, नक्सलवाद, क्षेत्रवाद जैसे कई तत्वों ने केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाया है। इसके अतिरिक्त इस सत्र में विभिन्न शोध-पत्रों के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया गया कि विगत कुछ वर्षों में कई बदलाव दिखाई दे रहे हैं, जैसे - पूर्वोत्तर राज्यों में अफ्स्पा का क्षेत्र संकुचित होना, कई राज्यों में विरोध और विद्रोह के माहौल में कमी आना, 356 का कम प्रयोग, नीति आयोग में राज्यों की बढ़ती भूमिका, वित्त आयोग के द्वारा राज्यों की हिस्सेदारी को 32 प्रतिशत से 42 प्रतिशत किया जाना, जीएसटी से राज्यों को मिलने वाले कर में वृद्धि होना, आदि। लेकिन इस तरह के अधिकांश बदलाव ऊपरी तौर पर तो बड़ी सुखद स्थिति प्रदर्शित कर रहे हैं लेकिन इन सारे बदलावों के पीछे कई ऐसे बदलाव भी किए गए हैं जो आसानी से दिखाई नहीं देते। इन बदलावों ने राज्यों की स्वायत्तता को कम किया तथा केन्द्र की दखल-अन्दाजी को बढ़ाया है।

चतुर्थ अकादमिक सत्र

यह सत्र 'केन्द्र-राज्य सम्बन्ध एवं मध्यस्थता के बिन्दु' पर केन्द्रित था। इस सत्र की अध्यक्षता प्रोफेसर सरोज कुमार वर्मा तथा सह-अध्यक्षता डॉ. पीयूष त्रिपाठी ने की। प्रतिवेदक के दायित्व का निर्वहन सुश्री स्वीटी सिन्हा ने किया। इस सत्र के मुख्य वक्ता डॉ. विद्याशंकर विभूति रहे, जिन्होंने भारतीय संघ के स्वरूप के पुनर्विचार विषय पर अपनी बात रखी। मुख्य वक्ता ने कहा कि बदलते सन्दर्भ में आर्थिक विकास राष्ट्रों के मूल मन्त्र हो चुके हैं और जब स्थानीय विशेषताओं को वैश्विक पहचान देकर उनका दोहन और पोषण किया जा रहा है तब भारत जैसे विविधतापूर्ण संघ में स्थानीय विशेषताओं को प्रश्रय देकर आन्तरिक संघवाद को सशक्त किया जाना चाहिए। भारतीय राज्यों में क्षेत्रीय विकास योजनाओं के निर्माण पर जोर देना चाहिए। प्रोफेसर विभूति ने सम्पूर्ण देश को 44 सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभाजित किया तथा इन क्षेत्रों को प्रशासनिक स्वायत्तता देने की बात की जिससे हमारा संघवाद और अधिक समावेशी हो। उन्होंने कहा कि केन्द्र और राज्यों में आर्थिक समस्याएँ, समरूप आर्थिक क्षमता, भौगोलिक एकरूपता, सजातीय समानता तथा सामान्य राजनीतिक विरासत के आधार पर विकेन्द्रीकरण के माध्यम से योजना तथा विकास को गति प्रदान की जा सकती है। इसके अतिरिक्त इस सत्र में केन्द्र राज्यों के बीच विधायी और प्रशासनिक सम्बन्धों तथा उनमें आ रहे बदलावों पर भी चर्चा हुई। देश का पिछले 75 वर्षों का इतिहास इस बात का गवाह है कि भारतीय संघीय प्रणाली केन्द्र सरकार के एकाधिकार तथा राज्यों द्वारा स्वायत्तता की माँग को लेकर खींचातान का शिकार रही है। 1989-2014 के दौर में इसमें कुछ कमी अवश्य दिखाई देती थी जब केन्द्र सरकारें अधिक सशक्त एवं नीति-निर्णय करने में सक्षम नहीं थीं। वास्तव में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में दो बातें विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं, प्रथम - केन्द्र एवं राज्यों की राजनीति, राजनीतिक दलों के परस्पर अविश्वास एवं चुनावी प्रतिस्पर्धा का शिकार रही है।

यही कारण है कि उनमें आपस में परस्पर राजनीतिक संवाद एवं सहमति स्थापित न हो सकी है। दूसरा - राजनीतिक दलों के आपसी अविश्वास एवं खींचातान के कारण अन्तर्सरकारी संगठन - क्षेत्रीय परिषद्, अन्तर्राज्य परिषद्, जीएसटी काउन्सिल तथा नीति आयोग पूरी क्षमता के साथ कार्य करने में विफल रहे हैं।

पंचम अकादमिक सत्र

यह सत्र 'नीति आयोग एवं कोविड-19 वैश्विक महामारी तथा केन्द्र राज्य सम्बन्धों का भविष्य' विषय पर केन्द्रित था। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. अनुराग रत्न ने की तथा सह-अध्यक्ष डॉ भवनीत सिंह बत्रा रहे। प्रतिवेदक श्री शेर सिंह दीपक रहे। इस सत्र में कुल छह शोध-पत्रों का वाचन हुआ। डॉ. गरिमा मौर्य, सुश्री शाहिस्ता, सुश्री स्नेहा यादव, सुश्री राधा, श्री विजयशंकर चौधरी एवं डॉ. शिवराज सिंह राठौड़ ने शोध-पत्रों का वाचन किया। सत्र में इस बात पर जोर दिया गया कि स्वास्थ्य जैसी आपदाओं से निपटने के लिए भारत में कोई समग्र कानून नहीं है। कोविड-19 के दौर में अव्यवस्थाओं का कारण इस तरह के कानून और व्यवस्थाओं का न होना रहा है, इसलिये यह समय की माँग है कि संविधान में स्वास्थ्य आपातकाल को जोड़ा जाए, जिससे इस तरह की परिस्थितियों से निपटा जा सके। इसके साथ ही इस सत्र में नीति आयोग की भूमिका पर जोर देते हुए कहा गया कि नीति आयोग ने सहकारी संघवाद की भावना पर बल दिया है तथा राज्यों के विकास का लक्ष्य निर्धारित किया है, परन्तु दूसरी ओर इस बात पर भी बल दिया है कि राज्य विकास तथा शासन में सुधार के लिए एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धी बनें। इस सत्र में नीति आयोग के राजनीतिकरण पर भी चिन्ता प्रकट की गई तथा शोधार्थियों ने नये सुधारों के परिणामों को समझने तथा विश्लेषण करने के लिए अभी थोड़े इन्तजार की बात भी कही।

षष्ठ अकादमिक सत्र

यह सत्र 'विकेन्द्रीकृत अभिशासन एवं भारतीय संघीय व्यवस्था' पर केन्द्रित था। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. विद्याशंकर विभूति तथा सह-अध्यक्षता डॉ. वीरेन्द्र शर्मा ने की। प्रतिवेदक का उत्तरदायित्व सुश्री चाँदनी गुप्ता ने वहन किया। इस सत्र में डॉ. नलिन सिंह पंवार, श्री मनोज टाँक, श्री सौरभ जैन, सुश्री आराधना कुमारी एवं श्री अभिषेक कुमार द्वारा शोध-पत्रों का वाचन किया गया। इस सत्र में भारतीय शासन के विकेन्द्रीकरण का इतिहास, महत्ता, प्रभाव और प्रयास, बलवन्त राय मेहता समिति का गठन, पंचायतों की स्थापना और उसके पश्चात् विभिन्न समितियों तथा 73वें और 74वें संविधान संशोधन पर चर्चा हुई। इसके साथ ही 73वें संविधान संशोधन के कारण समावेशन की प्रक्रिया में आई तेजी और हाशिये पर स्थित वर्गों की सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं में आए बदलाव पर भी चर्चा की गई। सत्र में यह बात भी सामने आई कि यह परिवर्तन चाहे सांकेतिक हों लेकिन आने

वाले समय में इनके परिणाम प्रभावशाली होंगे। इसके अतिरिक्त इस सत्र में कोविड-19 महामारी में मीडिया की भूमिका पर भी बात हुई।

समापन सत्र

अकादमिक सत्रों में भारतीय संघवाद के विभिन्न पहलुओं में सार्थक चर्चा, अकादमिक विचार-विमर्श एवं सभी प्रतिभागियों के तर्कपूर्ण प्रश्नोत्तर के पश्चात् समापन सत्र आयोजित हुआ। सत्र के अध्यक्षीय सम्बोधन में प्रोफेसर गोपालकृष्ण शर्मा ने कहा कि वर्तमान में जाँच एजेंसियों की बढ़ती भूमिका तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बढ़ते प्रभाव में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। संस्थान के निदेशक प्रोफेसर यतीन्द्रसिंह सिसोदिया ने भारतीय शोध एवं भारतीय शोध-छात्रों के अकादमिक लेखन, प्रकाशन और गुणवत्तापूर्ण शोध की विभिन्न चुनौतियों और प्रासंगिक निराकरण के पहलुओं की व्याख्या की। साथ ही संगोष्ठियों में शोध-पत्र प्रस्तुतीकरण, लेखन एवं प्रभावशीलता के विषय में भी सभी प्रतिभागियों का मार्गदर्शन किया। दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के सभी सत्रों का समवेत प्रतिवेदन का वाचन सेमिनार के संयोजक डॉ. उदय सिंह राजपूत तथा सत्र का संचालन सेमिनार के संयोजक डॉ. पुष्पेन्द्र कुमार मिश्र ने किया।

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का सफलतापूर्वक समापन संघवाद के अकादमिक विचार-विमर्श को सन्दर्भित करता है। सिद्धान्त रूप में संघवाद राज्य का वह संगठनात्मक स्वरूप है, जिसमें किसी समाज की राष्ट्रीय एकता तथा क्षेत्रीय स्वायत्तता के मध्य सन्तुलन स्थापित किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि यह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें जड़ता नहीं वरन् गतिशीलता और सजीवता दृष्टिगोचर होती है। यदि केन्द्र और राज्य सहकार की भावना से प्रगति करते हैं तो विवाद नहीं बल्कि संवाद स्थापित होगा और नवाचार के मार्ग विकसित होंगे।

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 2, दिसम्बर 2022, पृ. 94-107)

पुस्तक समीक्षा

महात्मा गाँधी इक्कीसवीं सदी का भारतीय एवं वैश्विक परिप्रेक्ष्य

यतीन्द्रसिंह सिसोदिया, गोपालकृष्ण शर्मा, आशीष भट्ट (सम्पादक)
रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2022, पृ. 237, रु. 1195

संजय कुमार*

'महात्मा' (महात्मा गाँधी) और 'महाभारत' भारतीय विचार मीमांसा के दो ऐसे विराट, विशिष्ट, महत्वपूर्ण, उल्लेखनीय और रोचक दृष्टान्त हैं, जिन पर लेखन, संवाद तथा विमर्श रुकने का नाम नहीं लेता है। 78 वर्ष 3 महीने और 28 दिन के पार्थिव जीवन में गाँधी 'कर्मवीर', 'महात्मा', 'गाँधी बाबा' तथा 'गाँधी महाराज' से लेकर 'राष्ट्रपिता' बनने की यात्रा पूरी करते हैं। 1959 ई. में भारत की यात्रा पर आए मार्टिन लूथर किंग ने 'माई विजिट टू द लैंड ऑफ गाँधी' शीर्षक के लेख में भारत की पहचान गाँधी की भूमि के रूप में की है तथा स्वीकार किया है कि महानता की किसी भी कसौटी पर गाँधी दुनिया के आधे दर्जन शख्सियतों की कोटि में ही आएँगे। प्रसिद्ध संस्कृतविद् तथा गणितज्ञ बी.एस. सुखथांकर, जिन्होंने श्रमसाध्य उद्यमिता से महाभारत का सम्पादन किया था, ने महाभारत को भारत का 'राष्ट्रीय आख्यान' माना है। इस प्रकार 'महात्मा' और 'महाभारत' दोनों राष्ट्रीय आस्था के जीवन्त प्रतीक और धरोहर हैं।

---

*राजकीय महाविद्यालय, सतपुली, पौड़ी गढ़वाल (उत्तराखण्ड)
E-mail: sanjaykumarsavan@gmail.com

गाँधी विषय और अनुशासन की कृत्रिम सीमाओं को तोड़ते हैं तथा जीवन और जगत् के सभी पहलुओं -- चाहे वह कितना ही असहजकारी क्यों न हो -- से घोर असहमतियों के बावजूद सार्थक और फलदायी संवाद स्थापित करते हैं। साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र, राजनीति विज्ञान, विकास-अध्ययन, पर्यावरण, प्रबन्धन इत्यादि में गाँधी सशक्त और प्रभावशाली वैकल्पिक वैचारिकी की निर्मिति करते हैं। लोहिया का मानना था कि एटम बम का विस्फोट और गाँधीजी का सत्याग्रह प्रवर्त्तन आधुनिक दुनिया की दो सबसे बडी घटनाएँ हैं और इन दोनों की टकराहट से ही मनुष्य का भविष्य तय होगा। अब तो गाँधी और उनका विचार अध्ययन तथा शोध की स्वतन्त्र और स्वायत्त अकादमिक प्रतिष्ठान 'गाँधी अध्ययन केन्द्र' (गाँधीयन स्टडीज सेंटर) के रूप में वैश्विक स्तर पर स्थापित हो चुका है। आज गाँधी व्यक्ति से इतर मानव-सभ्यता के इतिहास की परिघटना 'द गाँधी फिनॉमिनन्'[1] के रूप में उभरने लगे हैं। गाँधी पर प्रचुर तथा प्रभूत एवं परिमाणात्मक और गुणात्मक लेखन अकूत ज्ञान की सहस्रधारा की तरह अविरल प्रवहमान है। इस कड़ी में प्रस्तुत समीक्ष्य सम्पादित पुस्तक 'महात्मा गाँधी : इक्कीसवीं सदी का भारतीय एवं वैश्विक परिप्रेक्ष्य' समकालीन गाँधी विमर्श में मूल्यवान योगदान है।

गाँधी की 150वीं जयन्ती के अवसर पर मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत चुनिन्दा लेखों को इसमें शामिल किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ उन विद्वानों के भी आलेखों को इसमें शामिल किया गया है जो संगोष्ठी की परिधि से बाहर के हैं। निश्चित रूप से पुस्तक को तर्कसम्मत फ्रेमवर्क में रखते हुए बेहतर कलेवर और तथ्यात्मक संगतता बनाए रखने के लिए संकलित 20 लेखों को चार प्रकोष्ठों (गाँधी वैचारिकी एवं सामयिकी, गाँधी का समकालीन सामाजिक सन्दर्भ, गाँधी वैकासिकी एवं पर्यावरण तथा गाँधी की सामयिकता का विमर्श) में व्यवस्थित किया गया है। जिन विद्वानों के लेख इस सम्पादित पुस्तक में हैं वे साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान, पत्रकारिता, विकास-अध्ययन तथा गाँधी अध्ययन से सरोकार रखते हैं। यह पुनर्सत्यापित करता है कि गाँधी किसी विषय और अनुशासन से बँधे नहीं हैं, बल्कि बहुविषयक/अन्तरविषयक विमर्श के केन्द्र में हैं। समीक्ष्य पुस्तक में गाँधी की वैचारिकी को केन्द्र में रखकर 21वीं सदी के भारत और विश्व के ज्वलन्त प्रश्नों, मुद्दों एवं वैचारिक विमर्शों के आलोक में उसकी गहरी पड़ताल की गयी है। मृत्यु के छह दशकों के बाद उनकी जन्मतिथि (02 अक्टूबर) को अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस के रूप में सर्वसम्मत स्वीकृति भूमंडलीकृत विश्व में गाँधी के सार्वभौमिक विचारों, आदर्शों, प्रतिमानों एवं अनुसरित मार्गों का सार्वत्रीकरण है। सम्पादकत्रयी - यतीन्द्रसिंह सिसोदिया, गोपालकृष्ण शर्मा एवं आशीष भट्ट ने पुस्तक के परिचयात्मक सम्बोधन में उचित ही गाँधी के चिन्तन को बहुआयामी, समग्रवादी, सार्वभौमिक एवं कालजयी माना है (पृ. 2)।

सम्पादित पुस्तक के प्रथम प्रकोष्ठ में गाँधी विचार और दर्शन के स्थापित विद्वानों - नन्दकिशोर आचार्य, रघु ठाकुर, नरेश दाधीच, अनिलदत्त मिश्रा, अरविन्द मोहन के निबन्धों

को शामिल किया गया है, जिनमें सन्दर्भ ग्रन्थ या टिप्पणियाँ नहीं हैं। किन्तु इससे इन निबन्धों का महत्व और प्रभाव न्यून नहीं होता है। सम्पादित संकलन (एन्थोलॉजी) में लेखों अथवा निबन्धों की प्रस्तुति में एकरूपता का अभाव है और सन्दर्भ टिप्पणी की समरूप शैली की कमी प्रतीत होती है।

नन्दकिशोर आचार्य अपने लेख 'गाँधी : आज' की प्रारम्भिक पंक्तियों में बड़ी साफगोई से स्वीकार करते हैं कि मैं गाँधीवादी नहीं हूँ बल्कि गाँधी को समझने की निरन्तर कोशिशों के बाद भी कुछ न कुछ कोना अवश्य बचा रह जाता है (पृ. 20)। लेख के उपसंहार में नन्दकिशोर आचार्य पूर्वोक्त से हटकर टिप्पणी करते हैं कि हर आदमी गाँधी हो सकता है - अपने वृत्त में, अपने सन्दर्भ में। यहाँ लेखक का अन्तर्द्वन्द्व गुंजित होता है। चाहे-अनचाहे लेखक 20वीं सदी के प्रमुख साहित्यकार, आलोचक तथा इतिवृत्तकार बी.एस. नायपॉल, जिन्हें साहित्यिक मंडली में अपने समय का निर्दयी तथा क्रूर अवलोकनकर्त्ता भी कहा जाता है, के निष्कर्षों को दोहराते प्रतीत होते हैं। नायपॉल मानते हैं कि भारतीय शायद ही गाँधी को समझते हैं - 'इंडियंस हार्डली अंडरस्टैंड गाँधी'[2] और डंके की चोट पर कहते हैं कि किसी के लिए सम्पूर्ण गाँधी होना असम्भव है और कोई भी उस कालजयी पथ का अनुगामी नहीं बन सका। उनकी दृष्टि में बिना वास्तविक तथा मौलिक रूप में महात्मा को जाने हुए भारत महात्मा के अपने संस्करणों के साथ प्रयोग करता है। इतिहासकार इरफान हबीब भी स्वीकार करते हैं कि गाँधी ने अपने विजन को अग्रतर करने वाला कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा है। आचार्य अपने संक्षिप्त लेख में राजनीतिक और सामाजिक हिंसा की तत्कालीन प्रवृत्तियों पर अपनी चिन्ता व्यक्त करते हैं और संसदीय लोकतन्त्र की विसंगतियों को बेबाक उजागर करते हैं। भूमंडलीकृत विश्व में राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कॉर्पोरेट्स के एजेंट की भूमिका में आ चुका है और इसके पीछे एक वैध सांस्कृतिक हिंसा काम कर रही है। इस सन्दर्भ में आज गाँधी हर किस्म के अन्याय के न्यायपूर्ण प्रतिरोध के प्रतीक हैं। गाँधी का मार्ग निस्सन्देह वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में अन्याय शोषण, उत्पीड़न, भेद-भाव के विरुद्ध वैयक्तिक तथा सामूहिक संघर्ष का अहिंसक और नैतिक समाधान प्रस्तुत करता है जो असंख्य जन-गण के लिए सुलभ और साध्य भी है।

समाजवादी चिन्तक रघु ठाकुर ने अतिसंक्षिप्त निबन्ध 'व्यक्ति को सत्याग्रह और समाज को सिविल नाफरमानी पर चलना होगा' में सत्याग्रह और सिविल नाफरमानी को गाँधी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैचारिक अस्त्र माना है, जो लोकतन्त्र की बुनियाद है। गाँधी प्रयोगवादी महात्मा थे और जीवनपर्यन्त प्रयोग करते रहे - सत्य के साथ, ब्रह्मचर्य के साथ, उपवास, व्रत, आहार और न जाने कितने प्रकार के प्रयोग स्वयं पर दुहराये। इससे उनकी कथनी और करनी में तारतम्यता बनी रही। गाँधी ने सत्याग्रह को एक जीवन शैली माना तथा सिविल नाफरमानी को जनतान्त्रिक प्रतिरोध की संस्कृति के एक अचूक औजार के रूप में उपयोग किया। सत्याग्रह की शुरूआत 'व्यष्टि' से होती है और 'समष्टि' के साथ चलकर बाद में एकाकार हो जाता है।

गाँधी ने दो महाद्वीपों - एशिया और अफ्रीका, में सत्याग्रह का प्रयोग किया। अफ्रीका उनकी पेशेवर कर्मभूमि बनी तो भारत जन्मभूमि और प्रयोगभूमि दोनों ही थी। गाँधी की दृष्टि में सत्याग्रह एक कठोर व्रत है, जिसमें गलतियों को स्वीकार करने और प्रायश्चित्त स्वरूप आत्म-पीड़ा को सहर्ष झेलने का अप्रतिम आत्म-बल होना चाहिए। इस प्रकार सत्याग्रह आजमाया गया अस्त्र था, जिससे किसी को शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक रूप से आहत होने की रंच-मात्र भी गुंजाइश नहीं थी। सविनय अवज्ञा गाँधी के भारतव्यापी जन-आन्दोलनों की दूसरी सीढ़ी थी, जो असहयोग से एक कदम आगे थी।[3] इसमें व्यक्ति अथवा समूह उन आदेशों, कानूनों तथा नियमों की अवहेलना करता था, जो उसकी दृष्टि में वैधानिक या न्यायसंगत नहीं लगता। राजनीतिक प्रतिरोध की यह एक नवीन शैली थी, जिसमें व्यक्ति सहर्ष उन दंडों या सजा को अन्त:करण से स्वीकार करता था, जो उसके ऊपर अध्यारोपित की जाती थी। यह सिविल नाफरमानी आन्दोलन ही था जिसने परम्परागत सामाजिक ढाँचे में कैद नारी शक्ति को घर की चारदीवारी से खींचकर शान्तिपूर्ण जन-प्रतिरोध का सशक्त भागीदार बनाया। रघु ठाकुर के लेख के निष्कर्षों से सहमत होना कठिन है, जब वे समकालीन दौर को नि:शब्दता तथा मौन काल (पृ. 32) की संज्ञा देते हैं। वैज्ञानिक क्रान्ति के चौथे चरण में, जिसे इतिहासकार युवाल नोआ हरारी 'संचार क्रान्ति' कहते हैं - सोशल मीडिया एक ऐसा वृहत्तम प्लेटफॉर्म है जिस पर करोड़ों लोग अपनी बेबाक अभिव्यक्ति, मन्तव्य, विचार, टिप्पणी, राय इत्यादि देते हैं। आज ईरान में हिजाब के खिलाफ हजारों मुस्लिम महिलाओं का सड़कों पर बेखौफ प्रदर्शन नि:शब्दता तथा मौन काल के दावे को खारिज करता है।

नरेश दाधीच का विश्लेषणपरक लेख 'तृष्णा, जलवायु परिवर्तन एवं व्यक्तिवाद : गाँधीवादी विकल्प' स्वाभाविक मानवीय प्रवृतियों के वृत्त में गाँधी के अर्थशास्त्र की संकल्पना का गम्भीर परीक्षण करता है तथा जलवायु परिवर्तन की ज्वलन्त वैश्विक समस्याओं का गाँधीवादी विकल्प प्रस्तुत करता है। गाँधी न तो सैद्धान्तिक-दार्शनिक और न ही पेशेवर अर्थशास्त्री थे। उन्होंने हीगल, काण्ट, मिल और मार्क्स की तरह अपने विचारों का सैद्धान्तीकरण नहीं किया। इसलिये वे किसी कठोर और सख्त बौद्धिक 'वाद' विशेष के सुपरिभाषित ढाँचे में नहीं ढाले जा सके। किन्तु गाँधी की विचारधारा के दार्शनिक आयामों पर व्यापक और विस्तृत चर्चा अभी तक पर्याप्त रूप से नहीं हो पायी है।

दाधीच तृष्णा बनाम आवश्यकता के सन्दर्भ में लाओत्जू, सेंट थॉमस, एक्विनास, सेंट ऑगस्टाइन से लेकर एडम स्मिथ, देकार्ते और पीटर सिंगर के सूक्तों एवं विचारों को प्रभावी ढँग से रखते हैं। किन्तु बुद्ध, महावीर और कबीर जैसे सन्त-विचारकों से दूरी बनाकर रखते हैं, जिनका गाँधी पर प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित है। पश्चिमोन्मुखी चिन्तन ने भारतीय बौद्धिकों को प्राच्य दार्शनिक विचार-मंजूषा के अकूत ज्ञानकोश की ओर मुड़ने से रोका है। समाज विज्ञान की सभी शाखाओं में यह प्रवृत्ति कमोबेश सर्वव्याप्त है। गाँधी के विचारों और कार्यक्रमों पर टाल्स्टॉय, रस्किन, इमर्सन थोरो और लायड गैरिसन के प्रभावों को बिना

सान्दर्भिक पृष्ठभूमि के रुचिपूर्ण ढंग से हम रेखांकित करते हैं। रस्किन की कही बातों को गाँधी पर अनुचित ढंग से अध्यारोपित कर दिया गया है, जिसमें तथ्यात्मक विसंगतियाँ हैं।[4] हम पाश्चात्य दर्शन के सैद्धान्तिक अवदानों का गाँधी की वैचारिकी पर लेपन करते हैं। रूसी दार्शनिक टाल्स्टॉय के निजी जीवन की ओर झाँकें तो कुछ कलई उतर पाती है। टाल्स्टॉय के पच्चीस बच्चे थे, जिनमें से बारह गुलाम औरत से पैदा हुए थे। शायद पाश्चात्य सामाजिक नैतिकता और मूल्य टाल्स्टॉय को ऐसा करने की इजाजत देता हो! सनातन धर्म एवं संस्कृति में आस्था रखने वाले गाँधी के लिए यह कल्पनातीत था।

कुछ तो गाँधी के वक्तव्य को बाइबिल का ही पुनर्कथन मानते हैं। गाँधी की वैचारिकी पर मध्यकालीन भक्त-सन्त-कवि कबीर तथा गाँधी के समकालीन महात्मा श्रद्धानन्द के प्रभावों की ओर हमारा ध्यानाकृष्ट नहीं हुआ है। हिन्दी साहित्य के प्रथम डी.लिट्. तथा कबीर साहित्य के प्रथम भारतीय आधिकारिक विद्वान् पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने गाँधी पर कबीर के प्रभावों को प्रामाणिक ढंग से उजागर किया है।[5]

गाँधी का अर्थशास्त्र पूंजीवाद और समाजवाद दोनों को नकारता हैं। पूंजीवाद समाज में पूंजी और धन के वैयक्तिक संचयन पर बल देता है, वहीं समाजवाद वर्ग-संघर्ष पर आधारित पूंजीपति और सर्वहारा के पृथक् अस्तित्व तथा पारस्परिक हिंसक टकराहट को अवश्यम्भावी मानता है। नरेश दाधीच ने अपने विद्वत् आलेख में तृष्णा के स्थान पर जरूरत, प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के स्थान पर धारणीय विकास पर आधारित सहयोग तथा उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाकर सादे तथा पवित्र जीवनचर्या की हिमायत की है जो उचित और तर्कसम्मत है।

'गाँधी की पुनर्रचना' निबन्ध में अनिलदत्त मिश्रा गाँधी की ऐतिहासिक भूमिका को आधुनिक युग की समस्याओं और चुनौतियों का सक्षम समाधान करने में सहायक मानते हैं और उसे चिन्तन तथा व्यवहार में अपनाने पर बल देते है। देश की आजादी राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना तक सीमित नहीं थी। गाँधी ने स्वराज का जो परिप्रेक्ष्य अपने वक्तव्यों तथा लेखन में रखा था, वह राजनीतिक लोकतन्त्र से इतर था और राज्य तथा संसद की निर्णयकारी भूमिका का तार्किक सीमांकन था। मिश्रा ने भारत की ब्रिटेन के साथ मुठभेड़ को राजनीतिक और आर्थिक स्तर से ज्यादा सभ्यतामूलक माना है। इनकी दृष्टि में 'हिन्द स्वराज' वास्तव में राष्ट्रवादी युग की गीता है और संसदीय लोकतन्त्र में उत्पन्न अव्यवस्था से मुक्ति पाने के लिए नैतिक राजनीतिक नेतृत्व की अपेक्षा है, जो गाँधी के अपनाये मार्गो से ही सम्भव है।

अरविन्द मोहन अपने आलेख 'बापू तुम कौन हो' में गाँधी को केन्द्र में रखकर आधुनिक सत्तातन्त्र की राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक विद्रूपताओं के सन्दर्भ में 'महात्मा' से संवाद करते हैं। अत्यन्त रोचक और प्रभावशाली ढंग से अरविन्द मोहन अपने लेख में गाँधी को सम्बोधित करते हैं और दक्षिण अफ्रीका से लेकर चम्पारण सत्याग्रह में गाँधी की ऐतिहासिक भूमिका और कालजयी योगदानों को उजागर कर प्रतिपादित करते हैं कि गाँधी

त्रस्त, पस्त, और नव-उदारवाद से शिकस्त हर व्यक्ति और समूह का आज भी पथ-प्रदर्शक हैं। किन्तु तदनुरूप प्रयास का अभाव हमें सत्य का प्रयोग करने से वंचित करता है। लेखक ने बाजार के नियन्त्रण से उद्भूत त्रासदियों, किसानों और आदिवासियों की बेदखली, पेटेंट के द्वारा प्राकृतिक संसाधनों पर बौद्धिक एकाधिकार की कोशिशें, उत्पादकता संवर्द्धन के लिए पौधे तथा फसलों में आनुवांशिक इंजीनियरिंग के प्रयोग, इत्यादि के आलोक में वर्तमान की समस्याओं, चिन्ताओं और सरोकारों का निर्भीकतापूर्वक चित्रण किया है तथा गाँधी के विचारों पर अन्त:दृष्टिपूर्ण प्रकाश डाला है।

समीक्ष्य पुस्तक के द्वितीय प्रकोष्ठ (गाँधी का समकालीन सन्दर्भ) में पाँच लेखों को सम्मिलित किया गया है। निशिकान्त कोलगे ने अपने लेख 'हमें गाँधी आज कैसे याद रखना चाहिए' में यह स्थापित किया है कि गाँधी नैतिक और आध्यात्मिक प्रतिभा के साथ-साथ एक रचनात्मक राजनीतिक रणनीतिकार भी थे। कोलगे ने गाँधी की दो मौलिक अवधारणाओं - मोक्ष या आत्म-साक्षात्कार और अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में गाँधी की व्यावहारिक दृष्टि और परिस्थितिजन्य रवैये को बड़ी स्पष्टता से पुनर्परिभाषित किया है। सनातनी तथा आस्थावान हिन्दू होने के कारण मोक्ष गाँधी के जीवन का स्वाभाविक रूप से अन्तिम तथा उत्कृष्ट लक्ष्य था। अपनी आत्मकथा में कई स्थानों पर उन्होंने ईश्वर के प्रति अपनी अटूट आस्था को बार-बार व्यक्त किया है। अहिंसा के बारे में भी उनकी दृष्टि जड़वत नहीं थी, बल्कि वह आदर्श से ज्यादा यथार्थ की ओर उन्मुख थी। ध्यातव्य है कि गाँधी कोरे आदर्शवादी नहीं थे, बल्कि व्यावहारिक यथार्थवादी थे। राजनीतिज्ञ और महात्मा की दोहरी भूमिका वे बखूबी निभा रहे थे। कुछ लोग गाँधी को नैतिक तानाशाह (मोरल डिक्टेटर) भी मान लेते हैं। वस्तुत: गाँधी ब्रिटिशसत्ता के विरुद्ध भारतव्यापी जन-आन्दोलनों के प्रमुख सूत्रधार और वास्तुकार थे। इतने विशाल तथा वैविध्यपरक बहुलतावादी देश के जन-मानस को एक राजनीतिक मंच पर लाना और दमनकारी औपनिवेशिक सत्ता के प्रतिरोध में अहिंसक जन-आन्दोलन को संगठित और संचालित करना केवल महात्मा के लिए सम्भव हो सका। क्योंकि गाँधी ने व्यावहारिक रणनीतिक कौशल का नैतिक और आध्यात्मिक बल के साथ एक चमत्कारिक संयोजन कायम करने में विराट सफलता पायी। कोलगे के निष्कर्ष से सहमत होना थोड़ा कठिन है, जब वे कहते हैं कि आज का मुख्य संकट नैतिकता का नहीं है। सार्वजनिक, राजनीतिक तथा पेशेवर जीवन में शुचिता का अभाव, भ्रष्टाचार का दैत्याकार स्वरूप तथा चारित्रिक अध:पतन कहीं न कहीं नैतिक संकट की ओर संकेत करता है और यह वैश्विक स्वरूप ग्रहण कर चुका है, जिसे अस्वीकार करना उचित नहीं है।

'गाँधी एवं समकालीन विश्व के मुद्दे' शीर्षक लेख में प्रेम आनन्द मिश्र ने तीन समकालीन विमर्शों - फ्रांसिस फुकुयामा का 'इतिहास का अन्त', सैमुअल हंटिंग्टन का 'सभ्यताओं का टकराव' और 'आतंकवाद के समकालीन विमर्श (9/11)' - को केन्द्र में रखकर गाँधी के वैचारिक उद्गारों को रेखांकित करने का प्रयास किया है। लेखक ने पाश्चात्य बौद्धिकों के विमर्श को ही समकालीन वैश्विक विमर्श का गुरुत्व केन्द्र माना है।

कहीं न कहीं हमें यह स्वीकार करना होगा कि बौद्धिक धरातल पर पाश्चात्य वर्चस्व तथा एकाधिकारवाद एक सच्चाई है। पाश्चात्य सिद्धान्तों, अवधारणाओं और विमर्शों की 'हेजिमनी' आज भी कायम है। आज पश्चिम में ही फुकुयामा के विमर्श -- जिसमें उन्होंने 'इतिहास की शवयात्रा' निकाल दी थी -- को खारिज कर दिया गया है।

फुकुयामा ने स्वयं अपने बाद के लेखन में पूर्वोक्त वैचारिक दृष्टि को परिवर्तित किया। बदलते भू-राजनीतिक परिदृश्य में पश्चिमी उदार लोकतन्त्र के दावे का खोखलापन आज प्रतीत हो रहा है। फुकुयामा ने अपनी पुस्तक 'द एंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लास्ट मैन' में भारत का पाँच बार और गाँधी का एक बार उल्लेख किया है।[6] गाँधी के उल्लेख के बाद वी. एस. नॉयपाल का एक लम्बा उद्धरण दिया गया है जो भारत की गरीबी को सभ्यता का गैर-मानवीय पहलू मानते हैं। नॉयपाल ने भारत को घायल सभ्यता माना है, जबकि गाँधी के वे महान प्रशंसक हैं। इरफान हबीब का मानना है कि गाँधी ने इंग्लैंड में रहकर सारत: विक्टोरियाई उदार मूल्यों को ही आत्मसात किया था। उन पर यह प्रभाव इतने मजबूत जरूर थे कि 1889 में जब फ्रांसीसी क्रान्ति की 100वीं वर्षगाँठ मनाई गई, तब वे फ्रांस गये थे। बाद में गाँधी ने लगभग पूरी तरह से पश्चिमी सभ्यता को ही ठुकरा दिया। पश्चिमी सभ्यता का इस तरह ठुकराया जाना उस भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता के दावे का प्रस्थान-बिन्दु बन गया जिसमें न तो पूंजीवाद था और न जिसने साम्राज्यवाद का रूप ग्रहण किया था। इस तरह भौतिक दृष्टि से भारतीय सभ्यता की दरिद्रता ही गाँधी के लिए उसकी श्रेष्ठता के दावे का आधार बन गई।[7] अन्तिम जन तक राज्य, सरकार और विकास को पहुँचाने हेतु कृतसंकल्प गाँधी फुकुयामा से कतिपय सहमत नहीं थे।

संजय सुब्रमण्यम् कहते हैं कि सभ्यता दूसरों को नीचा दिखाने का हथियार मात्र है। हंटिंग्टन ने सभ्यताओं के टकराव को अवश्यम्भावी माना है तथा इसे धर्म के टकराव का समानार्थी स्वीकार किया है। प्रेम आनन्द मिश्र ने गाँधी के धर्म और सभ्यता के परिपेक्ष्य में विचारों का सूक्ष्मदर्शी विश्लेषण किया है और हंटिंग्टन के विमर्श की अन्तर्भूत दुर्बलताओं को उजागर किया है। गाँधी का सर्वसमावेशी दृष्टिकोण फुकुयामा और हंटिंग्टन के विमर्शों से पूर्ण असहमति के बावजूद संवाद की सम्भावनाओं से इनकार नहीं करता है।

नीरज कुमार झा का लेख 'महात्मा गाँधी एवं समकालीन राष्ट्रीय चेतना एवं राष्ट्रवाद का विमर्श' बहुआयामी, बहुकोणीय तथा बहुधुव्रीय प्रश्नों को तार्किक ढँग से सम्बोधित करता है। झा ने अपने विश्लेषणपरक आलेख में औपनिवेशिक भारत में राष्ट्र निर्माण की जटिल प्रक्रिया, राष्ट्रवाद के विकास और स्वतन्त्रता प्राप्ति से जुड़े पहलुओं पर गवेषणापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। इन्हीं सन्दर्भों में गाँधी की समकालीन प्रासंगिकता और गाँधी को खारिज करने की कोशिशों पर उल्लेखनीय प्रकाश डाला गया है। झा ने गाँधी की ऐतिहासिक भूमिका को रेखांकित करते हुए माना है कि सांस्कृतिक तथा सामाजिक वैविध्य के जटिल ताने-बाने के बावजूद भारत में सभ्यतागत एकात्मकता थी, जिसे औपनिवेशिक सत्ता सिरे से नकार रही थी। कैम्ब्रिज विचारधारा के इतिहास लेखन ने तो पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप और चरित्र

को विभिन्न हित समूहों की प्रतिस्पर्धा मात्र माना। गाँधी के नेतृत्व में अखिल भारतीय स्तर पर तीन लोकप्रिय जन आन्दोलनों का संचालन और भारत का दुनिया के विशाल लोकतान्त्रिक गणराज्य में उदय विश्व इतिहास का एक महत्वपूर्ण सीमा चिह्न है। इसी पृष्ठभूमि में गाँधी की राष्ट्रपिता के रूप में व्यापक स्वीकार्यता को झा ने एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम माना है, जिसका औचित्य मात्र भावनात्मक नहीं बल्कि सैद्धान्तिक है।

नीरज झा ने अपने लेख के अन्तिम भाग में सभ्यताओं के संघर्ष की हंटिंग्टन की व्याख्या से सहमति जताते हुए भारत भूमि में सभ्यताओं की टकराहट की जड़ें सल्तनत काल के सुल्तानों से लेकर सैयद अहमद के वक्तव्य में ढूँढने का प्रयास किया है। झा ने सल्तनत और मुगलकाल में विकसित सामासिक संस्कृति -- जिसे गंगा-जमनी तहजीब कहा जाता है -- के ऐतिहासिक तथ्यों को नजरअन्दाज किया है। अमीर खुसरो ने भारत को पृथ्वी का स्वर्ग माना है ओर कहा कि आदम और हौवा जब स्वर्ग से निकाले गये थे तब वे इसी देश में उतरे थे। खुसरो ने भारत के सामने बसरा, तुर्की, खुरासान, समरकन्द, मिस्र, कन्धार सबको तुच्छ बताया।[8] अकबर के समय से ही भारतीय मुगल अपने को फारस के अतीत से मुक्त कर चुके थे। भारतीय मुस्लिम व्यापारियों का कारवाँ मध्य एशिया से लौटने के उपरान्त अपने वतन को इस प्रकार याद करता था - 'जो सुख मिलहिं घर चौबारा, वो न मिला बल्ख बुखारा'। 1857 के गदर के समय अन्तिम मुगल शासक बहादुरशाह जफर पूरे हिन्दुस्तान के सर्वसम्मत रहनुमा बन गये थे। सुभाष चन्द्र बोस ने रंगून में स्थित उनकी कब्र पर जाकर श्रद्धासुमन अर्पित किये और उन्हें 'भारत का बादशाह' कहकर सम्बोधित किया।[9]

आज भारत की आजादी में गाँधी की भूमिका को नजरन्दाज करने और उससे भी ज्यादा खारिज करने का एक नैरेटिव चल पड़ा है। यह सत्य है कि गाँधी ने भारत की आजादी का जो सपना देखा था, वह अक्षरशः फलीभूत नहीं हो पाया। इतिहास की धारा और नियति ने कुछ और तय कर रखा था। आजादी से पहले दंगे और विभाजन की झुलसती लपटों में घिरे नवजात मुल्क की आजादी गाँधी के लिये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अग्रणी नेताओं की भाँति जश्न-ए-आजादी नहीं बन सकी। 'नियति से साक्षात्कार' का ऐतिहासिक उद्बोधन शायद वर्तमान के यथार्थ से कोसों दूर था।

इसलिये 15 अगस्त 1947 के ऐतिहासिक क्षण में महात्मा दिल्ली से हजारों मील दूर कलकत्ता और नोआखली में दंगे की विभीषिका से सब कुछ गवाँ चुके व्यथित जनमानस को मलहम लगा रहे थे। आजादी का यह अहिंसक और निरस्त्र सिपाही अपनी आत्मबल रूपी लाठी लेकर वह काम कर रहा था, जिसे सशस्त्र सैनिकों का दस्ता भी करने में विफल रहा था। रामचन्द्र गुहा ने इस ओर संकेत किया है कि 15 अगस्त 1947 का दिन भारत की आजादी के लिए माकूल दिन नहीं था। यह ब्रिटिश साम्राज्यवादी गौरव बोध से पूरित दिन था। परम्परावादी राष्ट्रवादियों ने हिन्दू ज्योतिष पर आधारित पंचांग की गणना के अनुसार इसे शुभ दिन नहीं माना था। चूंकि यह दिन द्वितीय महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों के धुरी राष्ट्रों पर विजय की दूसरी वर्षगाँठ थी और ब्रिटिश सत्ता के अन्तिम प्रहरी मांउट बेटन इसे यादगार समारोह के रूप में

मनाने के लिए कृतसंकल्प थे। मूल रूप से यह 'द्वि-राष्ट्र' सिद्धान्त की विजय थी। नीरज झा ने गाँधी की भारत की आजादी में ऐतिहासिक भूमिका का तटस्थ और स्रोतगत मूल्यांकन किया है जो प्रशंसा के योग्य है।

संजय जैन का लेख 'आधुनिक जीवनशैली, तथाकथित विकास और गाँधी विचार' उपभोक्तावादी और पश्चिमी बाजारवादी दर्शन, विकास की वर्तमान अवधारणा, संचय और भौतिक भोगलिप्सा तथा दुष्परिणामों पर सम्यक् प्रकाश डालता है। गाँधी अहिंसा और अपरिग्रह, ग्राम स्वराज, शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा और गरिमा तथा प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण अनुकूलन के आग्रही हैं। संजय जैन साम्यवादी व्यवस्था के ढहने और पूंजीवाद के संकटग्रस्त चरणों में गाँधी के द्वारा प्रदत्त विकास के वैकल्पिक प्रतिमान को मानवता के लिए एक उज्ज्वल सम्भावना मानते हैं।

पुस्तक के तृतीय प्रकोष्ठ को लेखको ने गाँधी वैकासिकी एवं पर्यावरण के वृहत् परिप्रेक्ष्य में अपने सारगर्भित विचार प्रस्तुत किये हैं, जिसमें आधुनिक वैश्विक अर्थव्यवस्था में परिभाषित विकास और पर्यावरण विमर्श को केन्द्रीयता प्रदान की गयी है।

उत्तम सिंह चौहान अपने लेख 'गाँधी दर्शन और सम्पोषित विकास' में विभिन्न विद्वानों - अर्नाल्ड टॉयनवी, आइन्स्टीन, एन्थनी जे. पैरेल, अकिल बिलग्रामी इत्यादि के उद्धरणों को उद्धृत करते हैं और गाँधी के दर्शन के मूलभूत भारतीय स्रोतों (सांख्य दर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन) को रेखांकित करते हैं। गाँधी की ज्ञान मीमांसा में पर्यावरण संरक्षण के बीज तत्व और प्रकृति केन्द्रित परिप्रेक्ष्य मिलते हैं। वैश्विक पर्यावरण संकट 20वीं सदी के सातवें दशक में अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अवतरित हुआ। गाँधी के समय जलवायु परिवर्तन, ओजोन परत का क्षय, ग्लेशियर का पिघलना, एलनीनो प्रभाव इत्यादि उस रूप में उपस्थित नहीं था, जैसा आज प्रतीत हो रहा है। किन्तु दुनिया में होने वाले पर्यावरण आन्दोलनों और उनके एक्टिविस्टों के लिए गाँधी एक प्रेरक व्यक्तित्व हैं। लेखक ने विनाशोन्मुखी आधुनिकतावादी विकास मॉडल के स्थान पर गाँधी के पारिस्थितिकी दर्शन को अपनाने पर बल दिया है।

'गाँधी का आत्मबल : हरित राजनीतिक सिद्धान्त' लेख में राजीव सक्सेना ने हरित वैचारिक आन्दोलन की स्वीकार्यता तथा सफलता के लिए गाँधी के आत्मबल सिद्धान्त -- जो 'चेतना की विशुद्धता' (प्योरिटी ऑफ कॉन्साइन्स) पर आधारित है -- को महत्वपूर्ण उपक्रम माना है। ग्रीन पार्टी के संस्थापकों में से एक - पेट्रा केली ने पार्टी की स्थापना में महात्मा गाँधी के विचारों के प्रभावों को स्वीकार करते हुए लिखा है कि हम अपने काम करने के तरीकों में महात्मा गाँधी से बहुत प्रेरित हुए हैं। गाँधी के विचार रियो शिखर सम्मेलन के एजेण्डा-21 के अभिन्न अंग हैं, जो टिकाऊ विकास के लिए एक ब्लूप्रिंट है।[10] हरित राजनीतिक सिद्धान्त तथा दर्शन पाश्चात्य जगत् की उपज है, जो जीवन की निरन्तरता और अच्छेपन की स्थापना के आदर्श पर आधारित है। किन्तु इस आन्दोलन को सत्याग्रह आन्दोलन से उद्भूत आत्मबल सिद्धान्त ही सम्पोषित करेगा।

शम्भू जोशी का आलेख 'पर्यावरण विमर्श की गाँधी दृष्टि' पश्चिमी विकास मॉडल और आर्थिकी की अन्तर्भूत विसंगतियों का पर्दाफाश करता है और असमान वितरण से उत्पन्न संकटों के निवारण के लिए स्वामित्व, लाभ और तकनीकी के विकेन्द्रीकरण की वकालत करता है।

आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास -- जिसका इन्टरनेट समूचे विश्व में सबसे ज्यादा उपयोग किया जाने वाला उपाय है -- उसी दिशा में अग्रसर है, जिसमें गाँधी के दर्शन को साकार करने की क्षमता है। सुधीन्द्र कुलकर्णी ने अपनी पुस्तक 'म्यूजिक ऑफ स्पिनिंग व्हील' में लिखा है - "मैं स्वयं चकित रह गया जब मैंने यह जाना कि डिजिटल प्रौद्योगिकी से प्रभावित होने वाला समय चरखे के मूल दर्शन को न सिर्फ वैधीकृत करेगा अपितु कार्यान्वित भी करेगा"।[11] कुलकर्णी ने इस पुस्तक में यह दिखलाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार गाँधी के आदर्शों की प्रतिध्वनि डिजिटल प्रौद्योगिकी के पथ-प्रर्दशक चिन्तकों और अन्वेषणकर्ताओं को आती रही है। गाँधी स्टीव जॉब्स के निजी हीरो में से एक थे।

अनुराग चतुर्वेदी ने 'गाँधी आर्थिकी और बदलता वैश्विक परिदृश्य' शीर्षक लेख में गाँधी के आर्थिक विचारों, ट्रस्टीशिप की अवधारणा तथा हिन्द स्वराज में वर्णित मशीनी सभ्यता की आलोचना के सन्दर्भ में बदलते और भू-मंडलीकृत विश्व की चुनौतियों की गहरी पड़ताल की है। चतुर्वेदी ने गाँधी के अर्थशास्त्र की आधिकारिक तथा प्रामाणिक समझ रखने वाले जे.सी. कुमारप्पा की स्थापनाओं को भारतीय आर्थिकी के सशक्तीकरण के मूल मन्त्र के रूप में स्वीकार किया है। चतुर्वेदी तकनीकी के अभूतपूर्व प्रसार को सामाजिक रूपान्तरण का अभिन्न अंग मानते हैं जो यथार्थ है।

पुस्तक के चतुर्थ तथा अन्तिम प्रकोष्ठ 'गाँधी की सामयिकता का विमर्श' में पाँच आलेख हैं। अजय कुमार ने 'गाँधी-अम्बेडकर : साझा सपनों के लिए रिक्त स्थान' शीर्षक लेख में 20वीं सदी के दो महान नायकों - गाँधी और अम्बेडकर के राजनीतिक तथा सामाजिक सरोकारों, मतभेदों तथा वैचारिक मिलन-बिन्दुओं की गम्भीर पड़ताल की है तथा इस रुचिकर विमर्श से जुड़े और उपलब्ध सभी प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया है। गाँधी और अम्बेडकर के अन्तर्सम्बन्धों तथा अन्तर्विरोधों को रामचन्द्र गुहा, अरुन्धती राय, कांचा इलैया, एस.ए. आनन्द, अरुण शौरी तथा अन्य बौद्धिकों ने भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में रेखांकित किया है। अजय कुमार ने वर्णव्यवस्था, अस्पृश्यता तथा दलितोद्धार के प्रयासों और कार्यक्रमों को केन्द्र में रखकर गाँधी और अम्बेडकर के मतभेदों को रेखांकित किया है। अम्बेडकर ने गाँधी के महात्मा के दावे को ठुकरा दिया और बौद्धिक तथा नैतिक धरातल पर गाँधी को चुनौती दी। घोर राजनीतिक तथा वैचारिक मतभेदों के बावजूद सुभाष चन्द्र बोस ने गाँधी को महात्मा और बाद में चलकर राष्ट्रपिता कहकर सम्बोधित किया। किन्तु ध्यातव्य है कि गाँधी और अम्बेडकर, दोनों ही के विचारों मे परिवर्तन और रूपान्तरण हुआ जिस ओर अजय कुमार ने यथोचित ध्यान नहीं दिया है। अम्बेडकर की पुस्तक 'हू वर शूद्राज' संस्कृतीकरण की अवधारणा से प्रभावित है।[12] कालान्तर में अम्बेडकर ने 'एनाहिलेशन ऑफ कास्ट' पुस्तक में

वर्ण या जाति व्यवस्था के अस्तित्व को ही नकार दिया। उसी प्रकार गाँधी ने भी अस्पृश्यता के प्रश्न पर घोषणा की, यदि अस्पृश्यता हिन्दुत्व का अविभाज्य अंग है तो मैं इसे स्वीकार नहीं करता। गाँधी अस्पृश्यता को पाप मानते हैं, जबकि अम्बेडकर इसे गैरकानूनी कृत्य।

अस्पृश्यता को धार्मिक और सामाजिक पाप मानने के गाँधी के आग्रह तथा अम्बेडकर द्वारा कानूनी अपराध का संवैधानिक अमली-जामा पहनाने के बावजूद आज भी अस्पृश्यता सामाजिक हकीकत है। शायद जाति व्यवस्था की रूढियों की जड़ें काफी गहरी हैं, जिसे राज्य अथवा सरकार की दृढ़ इच्छाशक्ति और संकल्पित प्रयासों से हटाना सम्भव नहीं है। इसके लिए गाँधी और अम्बेडकर की ऐतिहासिक भूमिका एक बेहतर तथा ठोस प्रस्थान-बिन्दु हो सकती है। रामचन्द्र गुहा भी स्वीकार करते हैं कि दलित उत्थान का प्रश्न अभी भी अनुत्तरित तथा अधूरा है।[13]

पयोद जोशी का आलेख 'महात्मा गाँधी : करिश्मा से करिश्मा तक' गाँधी का टैगोर, भगत सिंह, अम्बेडकर, नेहरू, एम.एन. राय, वी.डी. सावरकर इत्यादि के साथ विभिन्न मुद्दों पर बुनियादी मतभेद का सन्तुलित और आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करता है। गाँधी की सबसे विलक्षण विशिष्टता थी कि वे घोर असहमतियों के बावजूद भी संवाद स्थापित करने में विश्वास रखते थे। उन्हें फासीवाद के मसीहा मुसोलिनी से भी मिलने ओर अपनी बात बेबाकी से कहने में कोई गुरेज नहीं था।[14] कांग्रेस के अन्दर और बाहर दोनों ही जगह उन्हें वैचारिक ओर रणनीतिक चुनौतियाँ मिलीं। असहयोग आन्दोलन से लेकर भारत छोड़ो आन्दोलन के विभिन्न पड़ावों में विश्वस्त सहयोगियों ने उनकी नेतृत्व शैली को प्रश्नांकित किया। पयोद जोशी गाँधी के कट्टर विरोधी रजनी पामदत्त को उद्धरित करते हैं जिसमें गाँधी के करिश्मे को स्वीकार किया गया है। सुभाष चन्द्र बोस -- जिन्होनें कांग्रेस के अन्दर रहकर गाँधी के नेतृत्व को सांगठनिक चुनौती प्रदान की -- ने 'रोल ऑफ महात्मा गाँधी इन इंडियन हिस्ट्री' लेख में गाँधी के आवाम पर जादुई प्रभाव तथा चुम्बकीय आकर्षण की बेहतरीन मीमांसा की है, जो गाँधी के करिश्मे को समझने की सही कुंजी है।

बोस कहते हैं कि महात्मा अवाम से हर्बर्ट स्पेंसर या एडमण्ड बर्क की जुबान में बात नहीं करते, जैसा कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी करते थे, बल्कि भगवद्गीता और रामायण की बोधगम्य जुबान में करते हैं। जब स्वराज्य की बात करते हैं, तब वे क्षेत्रीय स्वायत्तता या संघीय शासन के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं करते, बल्कि रामराज्य की महिमा का स्मरण दिलाते हैं और जनता इसे समझ लेती है। जब वे प्रेम और अहिंसा से विजय की बात करते हैं तब वे उन्हें महात्मा बुद्ध और महावीर का स्मरण दिलाते हैं और जनता इसे सहज स्वीकार लेती है। इतिहासकार शाहिद अमीन[15] ने असहयोग आन्दोलन के दौरान पूर्वी उत्तर प्रदेश में गाँधी के चमत्कारिक और अविश्वसनीय पक्षों का गहन अन्वेषण किया है जो गाँधी के करिश्मे को समझने में सहायक है, जिस ओर पयोद जोशी ने अपने लेख में कोई संकेत नहीं किया है।

पुनीत कुमार एवं मंजुलता गर्ग का आलेख 'महात्मा गाँधी समकालीन सन्दर्भों में : एक समीक्षा' गाँधी के जीवन और आचरण के आधारभूत तत्वों - सत्य, अहिंसा, नैतिकता,

धार्मिक आध्यात्मिकता इत्यादि की संक्षिप्त तथा रुचिपूर्ण व्याख्या है। लेखक-द्वय ने गाँधी दर्शन के विभिन्न आयामों की गहरी मीमांसा की है और निष्कर्ष स्वरूप माना है कि गाँधी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक चुनौतियों से जूझ रहे वर्तमान विश्व के जनगण की समस्त समस्याओं का रचनात्मक, सार्थक तथा वसुधैव कुटुम्बकम् की उदात्त भावना पर आधारित समाधान प्रस्तुत करते हैं।

अर्चना मेहता का आलेख 'महात्मा गाँधी और परिवर्तित होती विश्व अर्थव्यवस्था' आर्थिक जगत् में विभिन्न वैश्विक प्रयोगों - पूंजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद तथा आर्थिक उदारीकरण की विफलताओं और उससे उत्पन्न चुनौतियों का मानवीय और नैतिक समाधान का मार्ग दिखलाता है जो गाँधी दर्शन के केन्द्र में है। 1931 ई. में यूरोपीय यात्रा के दौरान गाँधी कम्युनिस्ट पत्रकार चार्ल्स ट्रास को दिये साक्षात्कार में पूंजीपति, किसान और श्रमिकों के सम्बन्धों पर अपने दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं और कहते हैं - "मैं क्रान्तिकारी हूँ, अहिंसक क्रान्तिकारी"।[16]

गाँधी का ट्रस्टीशिप तथा स्वदेशी का विचार खुली प्रतिस्पर्धा, लाभार्जन की उच्चतम आकांक्षा तथा सम्पन्नता के एकाकी प्रायद्वीप बनाने वाली पूंजीवादी व्यवस्था और सर्वहारा एवं बुर्जुआ के बीच अवश्यम्भावी वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता पर बल देने वाला समाजवाद से इतर एक नवीन अर्थशास्त्र है, जिसमें समाज के अन्तिम जन की हिस्सेदारी तथा भागीदारी सुनिश्चित है।

समीक्ष्य सम्पादित पुस्तक में तथ्यों, वक्तव्यों, मन्तव्यों तथा उद्धरणों की पुनरावृत्ति कुछ स्थानों पर दृष्टिगोचर होती है। किन्तु इसका दोष लेखकों और सम्पादकों पर नहीं मढ़ा जा सकता है। गाँधी की सैकड़ों उक्तियाँ सूक्त, मन्त्र, मुहावरे तथा लोकोक्ति के रूप में जनमानस में संचरित हैं। उसी प्रकार महात्मा के बारे में अल्बर्ट आइन्स्टीन, अर्नाल्ड टायनवी, लुई फिशर, लोहिया, रवीन्द्रनाथ टैगोर, सुभाषचन्द्र बोस, सदृश कई महान समकालिकों के उद्धरण भी लोकप्रिय रूप में प्रवहमान हैं। उपर्युक्त की पुनरावृत्ति स्वाभाविक रूप से इस पुस्तक में भी है।

कुल मिलाकर समीक्ष्य पुस्तक गाँधी विमर्श के वृहत्तर वाङ्मय में उपयोगी अवदान है। इक्कीसवीं सदी के भारतीय और वैश्विक परिप्रेक्ष्य में महात्मा गाँधी के वैचारिक प्रकाश-पुंज की प्रत्येक रश्मि हिंसा, खून-खराबा, जनसंहार, सजातीय उपद्रवों से आहत और सखा पूंजीवाद (क्रोनी कैपिटलिज्म) की विद्रूपताओं से प्रभावित विश्व जन-गण के लिए एक नवीन आशा तथा उम्मीदों का पिटारा खोलती है। गाँधी के प्रथम जीवनीकार जोसेफ डोक[17] से गाँधी को समझने की बौद्धिक कोशिशें प्रारम्भ हुईं। आने वाले भविष्य की सदियाँ अपनी जरूरतों के अनुरूप गाँधी को पढ़ने, समझने और लिखने का प्रयास करती रहेंगी। पुस्तक के लेखकों ने समवेत स्वर में विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में गाँधी की कालजयी, सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक प्रासंगिकता को स्वीकार किया है। 'अक्षय गाँधी'[18] को इतिहास की देवी क्लियो की भाँति शाश्वत यौवन का वरदान प्राप्त है जिसे न तो उम्र जर्जर कर सकती है और न ही

प्रथाएँ बासी। फैसल देवजी गाँधी को भारतीय राजनीति का अनिवार्य अंग मानते हैं और कहते है कि हम गाँधी का जितना नकारने की कोशिश करते हैं उतना ही वह जीवन्त हो जाते हैं।[19]

सन्दर्भ

1. बनर्जी दुबे, इशिता (2015), *ए हिस्ट्री आफ मॉडर्न इंडिया,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 260-302.
2. *इंडिया टुडे* (सितम्बर 10, 2007), नई दिल्ली, पृ. 54-63 (इस अंक में बी.एस. नॉयपाल की पुस्तक 'ए राइटर्स पीपुल : वेज आफ लुकिंग एंड फीलिंग' के कुछ अंश प्रकाशित हुए थे.
3. धर्मपाल, गीता (सं.) (2015), *इसेन्शियल राइटिंग्स ऑफ धर्मपाल,* पब्लिकेशन्स डिविजन, नई दिल्ली, पृ. 123-163.
4. सॉयर, पॉल (2012), *द वेल्थ देट इज लाइफ : रस्किन्स वर्ड्स टू गाँधी,* इंडिया इन्टरनेशनल सेंटर, नई दिल्ली, पृ. 1-17.
5. चातक गोविन्द (सं.) (1991), *डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध,* तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 18-29.
6. फुकुयामा, फ्रांसिस (1992), *द एंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लास्ट मेन* (20वाँ वर्षगांठ संस्करण), पेंग्विन बुक्स, न्यूयार्क, पृ. 228.
7. हबीब, इरफान (29 सितम्बर, 2012), 'गाँधी एक आधुनिक चिन्तक', *राष्ट्रीय सहारा,* हस्तक्षेप, नई दिल्ली, पृ. 1.
8. दिनकर, रामधारी सिंह (2018), *संस्कृति के चार अध्याय* (तृतीय संस्करण), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 244.
9. कुमार, संजय (2021), 'स्ट्रगल एंड आयडियल्स ऑफ एन अनसंग हीरो : सुभाष चन्द्र बोस', प्रधन्य कामडी और शरद डवारे (सं.), *रोल आफ सुभाषचन्द्र बोस इन इंडियन फ्रीडम मूवमेंट,* ओम साई पब्लिशर, नागपुर, पृ. 11.
10. साहू, सत्यनारायण (अगस्त 2018), 'पर्यावरण और सतत विकास पर महात्मा गाँधी', *डाउन टू अर्थ,* नई दिल्ली, पृ. 52.
11. कुलकर्णी, सुधीन्द्र (29 सितम्बर, 2012), 'महात्मा/इंटरनेट', *राष्ट्रीय सहारा,* हस्तक्षेप, नई दिल्ली, पृ. 2.
12. शर्मा, रामशरण (2000), *शूद्रों का प्राचीन इतिहास* (तृतीय संस्करण) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 12.
13. गुहा, रामचन्द्र (2001), *एन एन्थ्रोपॉलिजिस्ट अमंग द मार्क्सिस्ट एंड अंडर एसेज,* परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली, पृ. 150.
14. कुमार, संजय (2019), 'गाँधी का अहिंसा दर्शन और नई वैश्विक व्यवस्था', अम्बिका दत्त शर्मा (सं.), *सनातन गाँधी से संवाद,* हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, पृ. 175 (मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका मध्यभारती के जुलाई-दिसम्बर, 2019 अंक में यह प्रकाशित हुआ था).
15. अमीन, शाहिद (1986), 'गाँधी एज महात्मा', *सबाल्टर्न स्टडीज III,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.
16. *हिन्दुस्तान,* इलाहाबाद, 2 अक्टूबर, 2011.

17. गुहा, रामचन्द्र (2011), *एन एन्थ्रोपॉलिजिस्ट अमंग द मार्क्सिस्ट एंड अंडर एसेज,* परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली, पृ. 68.
18. के. स्वामीनाथन ने 1984 ई. में के. संथानम स्मृति व्याख्यान में टिप्पणी की थी कि गाँधी की कहानी रामायण और महाभारत की भाँति अक्षय है।
19. द टाइम्स ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, अगस्त 15, 2012; देवजी, फैसल (2012), द इम्पोसिबल इंडियन : गाँधी एंड द टेम्पटेशन ऑफ वायलेंस, हॉर्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
के स्वामित्व एवं अन्य विवरण के सन्दर्भ में घोषणा

फार्म - 4 (नियम 8)

1.	प्रकाशन का स्थान	:	मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, 6, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन (म.प्र.) 456010
2.	प्रकाशन अवधि	:	अर्द्धवार्षिक
3.	मुद्रक का नाम	:	डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया
	क्या भारत के नागरिक है?	:	हाँ
	(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)	:	लागू नही
	पता	:	6, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन (म.प्र.) 456010
4.	प्रकाशक का नाम	:	डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया
	क्या भारत के नागरिक है?	:	हाँ
	(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)	:	लागू नही
	पता	:	6, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन (म.प्र.) 456010
5.	सम्पादक का नाम	:	डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया
	क्या भारत के नागरिक है?	:	हाँ
	(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)	:	लागू नही
	पता	:	6, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन (म.प्र.) 456010
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हो, तथा जो समस्त पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों	:	निदेशक, मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान 6, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन (म.प्र.) 456010

मैं डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गये विवरण सत्य हैं।

डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया
प्रकाशक के हस्ताक्षर

लेखकों के लिए अनुदेश

मध्य प्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल में समाज विज्ञान से सम्बन्धित सैद्धान्तिक आलेख, अनुभवजन्य शोध आधारित आलेख, टिप्पणियाँ और पुस्तक समीक्षाएँ प्रकाशित की जाएँगी। लेखकों से निवेदन है कि अपनी रचनाएँ प्रकाशन हेतु प्रेषित करते समय निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखें -

- कृपया अपनी रचना को यूनीकोड फॉन्ट में टंकित कर एमएस-वर्ड फाइल में mailboxmpissr@gmail.com पर ई-मेल के माध्यम से प्रेषित करें। शोध आलेख की शब्द सीमा 3500 से 5000 के बीच होना चाहिए। शोध आलेख के साथ 100-150 शब्दों में शोध आलेख का सारांश भी अनिवार्य है।
- विशेष परिमाण संख्या जैसे 2 प्रतिशत या 5 किलोमीटर को सूचित करने के अतिरिक्त इकाई अंकों (1-9) को शब्दों में ही लिखें जबकि दहाई एवं उससे अधिक की संख्या को अंकों में लिखें।
- किसी भी वर्तनी के लिए एकरूपता महत्वपूर्ण होती है। सम्पूर्ण रचना में एक ही शब्द को विभिन्न प्रकार से नहीं लिखा जाना चाहिए। इसमें प्रचलन और तकनीकी सुविधा का ध्यान रखा जाना चाहिए।
- रचना में उद्धृत वाक्यांशों को दोहरे उद्धरण चिह्न ("...") के मध्य दें। यदि उद्धृत अंश तीन वाक्यों से अधिक का हो तो उसे अलग पैरा में दें। उद्धृत अंश में लेखन की शैली और वर्तनी में कोई भी परिवर्तन अपनी ओर से न करें।
- सभी टिप्पणियाँ एवं सन्दर्भ शोध आलेख के अंत में दिये जाएँ तथा शोध आलेख में यथास्थान उनका आवश्यक रूप से उल्लेख करें। सन्दर्भ सूची में किसी भी सन्दर्भ का अनुवाद करके न लिखें। सन्दर्भों को उनकी मूल भाषा में ही रहने दें। यदि सन्दर्भ में हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा का मिश्रण हो तो सन्दर्भ को लिप्यान्तरित कर देवनागरी लिपि में ही लिखें।
- समसामयिक प्रासंगिकता, स्पष्ट एवं तार्किक विश्लेषण, सरल एवं बोधगम्य भाषा, उचित प्रविधि आदि शोध आलेख के प्रकाशन हेतु स्वीकृति के मानदण्ड होंगे। प्राप्त रचनाओं की समीक्षा प्रकाशन से पूर्व विषय विशेषज्ञों द्वारा की जाती है। यदि समीक्षक रचना में संशोधन हेतु अभिमत देते हैं तो रचनाकार को वांछित संशोधन करने होंगे। किसी भी शोध आलेख को स्वीकृत/अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादक का होगा।
- पत्र व्यवहार का पता : सम्पादक, मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल, म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, 6, प्रो. रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन - 456010 (म.प्र.)।

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली तथा उच्च शिक्षा मन्त्रालय, मध्यप्रदेश शासन द्वारा स्थापित स्वायत्त शोध संस्थान है। कार्य एवं स्वरूप की दृष्टि से मध्यप्रदेश में यह अपनी तरह का एकमात्र शोध संस्थान है। समाज विज्ञानों में समकालीन अन्तरशास्त्रीय संदृष्टि को बढ़ावा देते हुए समाज विज्ञान मनीषा का सशक्त संवाहक बनना संस्थान का मूल उद्देश्य है।

अपनी संस्थापना से ही यह संस्थान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक एवं विकास की विभिन्न समस्याओं, मुद्दों और प्रक्रिया ओं पर अन्तरशास्त्रीय शोध को संचालित और प्रोत्साहित करते हुए सामाजिक, आर्थिक और नीतिगत महत्त्व की शोध परियोजनाओं को क्रियान्वित करता है।

संस्थान की शोध गतिविधियाँ मुख्यतः पंचायत राज एवं ग्रामीण विकास, अनुसूचित जाति एवं जनजाति से सम्बन्धित मुद्दे, विकास एवं संस्थापन, पर्यावरण अध्ययन, सामाजिक न्याय, लोकतन्त्र एवं मानवाधिकार, सूचना तकनीकी तथा समाज, शिक्षा एवं बाल अधिकार एवं नवीन आर्थिक नीतियाँ आदि संकेन्द्रण क्षेत्रों पर केन्द्रित हैं।

परिसंवादों, संगोष्ठियों, कार्यशालाओं, प्रशिक्षण कार्यक्रमों आदि अकादमिक अनुष्ठानों का आयोजन, समाज विज्ञानों में अनुसन्धानपरक नवोन्मेष एवं नवाचारों का प्रवर्तन, मन्त्रालयों एवं अन्य सामाजिक अभिकरणों को परामर्श एवं शोधपरक सहयोग प्रदान करना संस्थान की अन्य प्रमुख गतिविधियाँ हैं। संस्थान में एक संवर्द्धनशील पुस्तकालय एवं प्रलेखन केन्द्र है जिसमें समाज विज्ञानों पर पुस्तकें, शोध जर्नल्स और प्रलेख उपलब्ध हैं।

संस्थान शोध कार्यों को अवसरिक पत्रों, विनिबन्धों, शोध-पत्रों एवं पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करता है। इसके अतिरिक्त दो षाण्मासिक शोध जर्नल - मध्यप्रदेश जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज़ (अँग्रेजी) एवं मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल (हिन्दी) का प्रकाशन भी संस्थान द्वारा किया जाता है।

भारत के समाचार पत्रों के पंजीयक के कार्यालय में
पं.क्र. MPHIN/2003/10172 द्वारा पंजीकृत

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान के लिए
डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया द्वारा
6, रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन - 456010 (मध्यप्रदेश) से
प्रकाशित एवं मुद्रित